श्रीगोकुलेन्दुर्जयति ।

नित्यलीलास्थ-गोस्वामिवर्य-

श्री १०८ श्रीदेवकीनन्दनाचार्यचरणानां स्मारिका

ग्रन्थरत्नमाला

तस्याः

प्रथमं ग्रन्थरत्नं

विद्वन्मण्डनम् ।

द्वितीयो भागः ।

श्री १०८ श्रीगोस्वामि-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण-प्रणीतम् ।

(निष्कर्षः ।)

चतुर्थपञ्चमपीठाधीश्वर-गोस्वामि-श्री १०८ श्रीवल्लभाचार्यचरणानां
विद्याविभागतो 'मोहमयी'स्थ 'निर्णयसागर'मुद्रणागारे
मुद्रापयित्वा प्रकाशितम् ।

सार्धरूप्यकम् ।

श्रीगोकुलेन्दुर्जयति ।

नित्यलीलास्थ-गोस्वामिवर्य-

श्री १०८ श्रीदेवकीनन्दनाचार्यचरणानां स्मारिका

ग्रन्थरत्नमाला

तस्याः

प्रथमं ग्रन्थरत्नं

विद्वन्मण्डनम् ।

द्वितीयो भागः ।

श्री १०८ श्रीगोस्वामि-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण-प्रणीतम् ।

(निष्कर्षः ।)

चतुर्थपञ्चमपीठाधीश्वर-गोस्वामि-श्री १०८ श्रीवल्लभाचार्यचरणानां
विद्याविभागतो 'मोहमयी'स्थ 'निर्णयसागर'मुद्रणागारे
मुद्रापयित्वा प्रकाशितम् ।

श्रीवल्लभाब्दाः ४४९ । खिस्ताब्दाः १९२६ । विक्रमाब्दाः १९८३ ।

॥ श्रीगोकुलेन्दुर्जयति ॥

सटीक विद्वन्मण्डनस्य

हिन्दीनिष्कर्षः ।

वेणुस्वनाहूत नताङ्गियोंकी प्रेमोर्मियोंसे अतिसान्द्र आर्द्र ।
व्यक्त प्रतिव्यक्ति, दृगुत्सवार्थ श्रीगोकुलेन्दु प्रभु हो दयार्द्र ॥

ग्रन्थारम्भ-समर्थन ।

(१) **सिद्धान्ती**—इस जगत्में अनेक प्रकारके क्लेशोंसे दुःखित हुए जीवोंके मोक्षके लिये वेद और पुराणोंमें ब्रह्म–स्वरूपके श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेका आदेश है इसलिये सभी मुमुक्षु जानना चाहते हैं कि ब्रह्मस्वरूप कैसा है? परन्तु केवल, वेदके और पुराणोंके श्रवणसे ही ब्रह्मस्वरूपका निश्चय नहीं होता, क्योंकि इनमें ब्रह्मको सगुण भी कहा है और निर्गुण भी कहा है इसलिये निर्णयकी आवश्यकता है ।

ब्रह्म निर्गुण है ।

(२) **पूर्वपक्षी**—यह तो निर्णीत ही है कि ब्रह्म निर्गुण है, क्योंकि '**अस्थूलमनणु**' इत्यादि ब्रह्म–बोधिका श्रुतियाँ गुणोंका निषेध करती हैं और इनका बाध '**सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः**' इत्यादि गुण–बोधिका श्रुतियाँ कर नहीं सकती, कारण यही कि गुणाधार–भूत ब्रह्म प्रतीत हुए विना ये गुणोंका बोध करा नहीं सकती और ब्रह्मकी प्रतीति '**अस्थूलमनणु**' इत्यादि श्रुतियोंसे होती है इसलिये '**अस्थूलमनणु**' इत्यादि श्रुतियाँ इन गुण–बोधिका श्रुतियोंकी उपजीव्या (आश्रय) हैं और उपजीव्यकी अपेक्षा उपजीवक निर्बल रहता है, क्योंकि वह सापेक्ष है ।

सिद्धान्ती—ब्रह्म–बोधिका श्रुतियाँ गुणाधार–भूत ब्रह्म–स्वरूपका वर्णन करती हैं और गुण–बोधिका श्रुतियाँ उसमें गुणोंका बोध कराती हैं, ये दोनों भी प्रकारकी श्रुतियाँ अपने २ विषयमें स्वतंत्र हैं, इनमें उपजीव्योपजीवक–भावकी कल्पना कर ब्रह्म–बोधिका श्रुतियोंको सबल और गुण–बोधिकाओंको निर्बल कहना अयोग्य है ।

पूर्वपक्षी—यदि दोनों प्रकारकी श्रुतियाँ समान–बल होंगी तो ब्रह्म निर्गुण या सगुण कुछ भी प्रमाणित नहीं होगा, क्योंकि जैसे गुण–बोधिका ब्रह्ममें गुणोंको बताती हैं, इसी प्रकार '**अस्थूलमनणु**' इत्यादि ब्रह्म–बोधिका गुणोंका निषेध करती

हैं। इसलिये पूर्वोक्तानुसार ब्रह्म–बोधिकाओंको प्रबल मानकर ब्रह्मको निर्गुण स्वीकार करना ही ठीक है।

सिद्धान्ती—अज्ञात वस्तुका निषेध नहीं होसकता इसलिये ब्रह्म–बोधिका श्रुतियोंको भी गुण–निषेध करनेके लिये गुण–बोधिका श्रुतियोंका आश्रय लेना आवश्यक है। अतः ये भी ब्रह्म–बोधिका श्रुतियोंकी उपजीव्या हैं, यदि उपजीव्यता ही प्राबल्यका कारण है तो फिर भी ये दोनों समान–बल हैं, अतः तुम्हारे कथनानुसार ब्रह्म निर्गुण है या सगुण यह कुछ भी निश्चित नहीं होगा, प्रत्युत बौद्धाभिमत शून्यवाद सिद्ध होजायगा।

पूर्वपक्षी—प्रतियोगी (जिनका अभाव हो) सदा अभावोंके उपजीव्य (आश्रय) रहते हैं, परन्तु उपजीव्यताके कारण कहीं भी प्रतियोगि–बोधक प्रमाण अभाव–बोधक प्रमाणकी अपेक्षा प्रबल नहीं माने जाते, क्योंकि ऐसा माननेसे अभावका बोध होना ही असम्भव होजाता है, इसलिये यहाँ भी गुण–बोधिका श्रुतियाँ उपजीव्यताके कारण सबल नहीं मानी जासकतीं।

सिद्धान्ती—इस सबल–निर्बल–भाव–कल्पनाकी अपेक्षा तो यह मानना ठीक है कि ब्रह्म–बोधिका श्रुतियाँ ब्रह्ममें लौकिक गुणोंका निषेध करती हैं और गुण–बोधिका अलौकिक गुणोंका बोध कराती हैं।

पूर्वपक्षी—ऐसे अलौकिक गुणोंकी कल्पना करनेमें कुछ प्रमाण नहीं है। यदि वेद अपने कहे हुए गुणोंका स्वयं निषेध नहीं कर सकता इसलिये यह कल्पना की जाती है तो **'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'** (अर्थ—आत्माको देखो और सुनो) इस श्रुतिमें एक अलौकिक श्रवणकी भी कल्पना करनी चाहिये, क्योंकि **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** (अर्थ–जिस ब्रह्मको स्पर्श न कर वाणी लौट जाती है) इस श्रुतिसे श्रवणका भी निषेध है। यदि यहाँ वेद स्वयं ही ब्रह्म–स्वरूपके श्रवणका विधान कर निषेध कर सकता है तो सर्वकामत्व, सर्वगन्धत्व आदि धर्मोंका भी स्वयं बोध कराकर स्वयं निषेध कर सकेगा।

सिद्धान्ती—वस्तुतः आपको कहना क्या है? जगत् में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो एक ही समयमें अपने दोनों प्रकारके स्वरूपोंका परिचय देती हो, घट पट आदि कुछ ऐसी वस्तुएँ अवश्य हैं जो समय–भेदसे अपने अनेक प्रकारके स्वरूपोंको दिखाती हैं, जैसे–घट प्रथम श्याम रहता है और फिर लाल होजाता है, परन्तु ब्रह्म एकरस है इसलिये यह संभव नहीं कि प्रथम ब्रह्म निर्गुण रहे और फिर सगुण होजाय। अतः इस गुण–बोधन और गुण–निषेधका कुछ प्रयोजन तो अवश्य होना चाहिये,

व्यर्थ ही तो श्रुति ऐसा कर नहीं सकती । यदि वस्तुतः ब्रह्ममें गुण नहीं हैं तो गुणोंका बोध न कराना ही अच्छा था, जिससे निषेध करनेका प्रयास स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही न होती ।

पूर्वपक्षी—जगत्कर्तृत्व, सर्वकामत्व आदि गुण अविद्याके सम्बन्धसे सगुण ब्रह्ममें रहते हैं इसलिये सभी गुण–बोधिका श्रुतियाँ सगुण ब्रह्मका वर्णन करती हैं । जब उपासककी बुद्धि सगुण ब्रह्मकी उपासनासे शुद्ध और स्थिर होजाती है तो निर्गुण ब्रह्मकी उपासनामें और साक्षात्कारमें सरलता होती है । जैसे–द्वितीयाका चन्द्र अल्पाकार होनेसे जब बालकके दृष्टिगोचर नहीं होता है तो प्रथम उस दिशामें स्थित किसी वृक्षकी शाखा दिखाई जाती है और फिर उस शाखाकी सहायतासे सहज ही चन्द्रदर्शन होजाता है । यही गुण–बोधिका श्रुतियोंका निर्गुण ब्रह्ममें उपयोग है, वस्तुतः ब्रह्ममें गुणोंका स्पर्श नहीं है ।

ब्रह्म सगुण है ।

(३) **सिद्धान्ती**—सगुण और निर्गुण ब्रह्म भिन्न हैं या अभिन्न? यदि भिन्न हैं तो तुम्हारे मतमें अद्वैत कैसा? यदि अभिन्न हैं तो गुण–बोधिका श्रुतियाँ सगुण–ब्रह्मका वर्णन करती हैं, निर्गुणका नहीं इसका क्या अर्थ?

पूर्वपक्षी—सगुण और निर्गुण ब्रह्मका भेद अवश्य है, परन्तु अवास्तविक है, क्योंकि अविद्योपाधिका किया हुआ है–अविद्याके सम्बन्धसे ब्रह्ममें जगत्कर्तृत्वादि गुण प्रतीत होते हैं और इसीसे इस भेदका जन्म होता है, किन्तु अविद्या तथा अविद्याकल्पित कर्तृत्वादि गुण मिथ्या हैं, इसलिये यह इनका किया हुआ भेद वास्तविक नहीं होसकता । अत एव इससे अद्वैतका भङ्ग भी नहीं होसकता ।

सिद्धान्ती—श्रुतियाँ सृष्टि–रचनामें ब्रह्मको स्वतंत्र कहती हैं, सत्व, रज, तम गुण या जीव–कर्म, किसीकी भी सृष्टि–रचनामें अपेक्षा बतातीं नहीं । यदि तुम अविद्याके सम्बन्धसे ब्रह्मको जगत्कर्ता मानते हो तो, अविद्या और ब्रह्म दोनों अनादि हैं और जो अनादि होते हैं उनका नाश नहीं होता इसलिये सर्वदा सृष्टि होती रहेगी, प्रलय कभी न होगा ।

पूर्वपक्षी—सत्व, रज, तम ये तीनों गुण अविद्या–स्वरूपके अन्तर्गत हैं । इनमें जब रजका आविर्भाव होता है तब ब्रह्म ब्रह्माके स्वरूपसे सृष्टि करता है, जब सत्वका आविर्भाव होता है तब विष्णुके स्वरूपसे रक्षा करता है और जब तमका आविर्भाव होता है तब शिवके स्वरूपसे प्रलय करता है । यही—**'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते । स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति संज्ञाः'**

इस भागवत—वचनसे स्पष्ट होता है । अतः सर्वदा सृष्टि होनेकी या प्रलय न होनेकी कोई आपत्ति नहीं है ।

सिद्धान्ती—उक्त तीनों गुण जड हैं इसलिये इनका जो क्रमसे आविर्भाव होता है प्रथम रजका, अनन्तर सत्वका और तदनन्तर तमका, इसमें कुछ कारण होना चाहिये, स्वयं तो ऐसा हो नहीं सकता । यदि ब्रह्मकी इच्छा कारण है तो जगत्‌के सृष्टि—स्थिति-संहार भी उसीसे होजाएँगे, फिर गुणोंकी क्या आवश्यकता है ।

और तुम गुणाविर्भावमें ब्रह्मकी इच्छाको कारण मान भी नहीं सकते, क्योंकि तुम्हारे मतमें ब्रह्म अविद्याके अधीन होकर सृष्टि करता है इसलिये उसकी इच्छामें भी क्रमसे प्रकट हुए उपर्युक्त अविद्याके गुण ही कारण होसकते हैं, न कि गुणोंके आविर्भावमें उसकी इच्छा ।

पूर्वपक्षी—गुणोंके क्रमसे प्रकट होनेमें गुणोंका स्वभाव ही कारण है ।

सिद्धान्ती—यदि ऐसा है तो ब्रह्मको कारण माननेकी क्या आवश्यकता है, ऐसे स्वभाववाले गुण ही सृष्टि—रचना कर सकेंगे ।

और ब्रह्मको अविद्या—परतन्त्र मान कर कर्ता कहना यह भी विरुद्ध है, क्योंकि पाणिनिमहर्षिने ‘**स्वतन्त्रः कर्ता**’ इस सूत्रसे स्वतन्त्रको ही कर्ता बताया है ।

पूर्वपक्षी—सैनिक राजा के अधीन रहते हुए भी युद्धादिक कार्य करते हैं, फिर ब्रह्म ही क्यों अविद्याऽधीन होनेसे कर्ता नहीं होसकता ।

सिद्धान्ती—सैनिक राजाधीन रहते हुए भी स्वतन्त्र अपना २ कार्य करते हैं, परंतु ब्रह्म स्वतन्त्र कुछ नहीं करता इसलिये इसे कर्ता नहीं कह सकते । और उपाधियुक्तको कर्ता कहनेका तात्पर्य उपाधि कर्ता है यही होना है । जैसे—घटाकाशकी संचलन—क्रियाका पर्यवसान घटके संचलनमें होता है । अतः ऐसा माननेमें ब्रह्मको कर्ता कहनेवाली सभी श्रुतियोंका विरोध है ।

पूर्वपक्षी—वस्तुतः अविद्योपाधि ही सृष्टि—रचना करती है, परन्तु ईश्वरोपासनामें जीवोंको प्रवृत्त करनेके लिये प्रशंसाकी अपेक्षा है इसलिये श्रुतियाँ अविद्याके कर्तृत्वका ब्रह्ममें उपचारसे वर्णन करती हैं । जैसे कि केवल सेना युद्ध करती हो, तथापि सभी जनता राजा युद्ध करता है यह कहती है । अतः श्रुति—विरोधकी कोई आपत्ति नहीं है ।

सिद्धान्ती—राजा और सेनाका जैसा परस्पर सेव्यसेवक—भाव सम्बन्ध है ऐसा भावाज्ञान—स्वरूप अनादि अविद्याका ब्रह्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ‘**सदेव सौम्येदमग्र आसीत्**’ (अर्थ—सृष्टिके पूर्व केवल ब्रह्म ही था) यह श्रुति सृष्टिके पूर्व कालमें ब्रह्मातिरिक्त वस्तुकी सत्ताका निषेध करती है, यदि अविद्या सृष्टि

—कारण होती तो सृष्टिसे पूर्व अवश्य विद्यमान रहती, क्योंकि कार्यसे पूर्व कारण अवश्य रहता है और रहते हुए इस निषेधका होना किसी प्रकार संभव नहीं है। अतः अविद्याके कर्तृत्वका ब्रह्ममें उपचार कहना सर्वथा अयोग्य है।

पूर्वपक्षी—'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुतिमें 'सत्' शब्द अविद्या-युक्त ब्रह्मका वाचक है, अतः यह श्रुति अविद्या-युक्त ब्रह्मसे अतिरिक्त वस्तुका निषेध कर सकती है, अविद्याका नहीं कर सकती।

सिद्धान्ती—'ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' यह गीतावचन, ॐ, तत् और सत् ये तीनों केवल ब्रह्मके नाम हैं यह कहता है इसलिये 'सत्' शब्दका अर्थ अविद्या-युक्त ब्रह्म नहीं होसकता।

पूर्वपक्षी—'सत्' शब्दका अर्थ यदि शुद्ध ब्रह्म मान लिया जाय, तथापि इस श्रुतिसे ब्रह्मातिरिक्त वस्तुका निषेध नहीं होसकता, क्योंकि इसमें जो 'सत्' शब्दके अनन्तर 'एव' पद है इसका सम्बन्ध 'आसीत्' इस क्रियाके साथ है, 'सत्' शब्दके साथ नहीं है, इसलिये इसका अर्थ केवल इतना ही है कि सृष्टिके पूर्व ब्रह्म अवश्य था, यह नहीं कि ब्रह्मातिरिक्त कोई वस्तु ही न थी। यदि ऐसा होता तो श्रुति 'अग्रे' इस पदसे ब्रह्मातिरिक्त कालकी सत्ता न बताती, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्तकी सत्ताका निषेध कर, पुनः ब्रह्मातिरिक्त कालकी सत्ता बताना पूर्वापर विरुद्ध है।

सिद्धान्ती—केवल **'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'** इस श्रुतिमें 'एव' पदके सम्बन्धका परिवर्तन कर देनेसे ब्रह्मातिरिक्त वस्तुकी सत्ता प्रमाणित नहीं होसकती, क्योंकि **'सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्'** (ब्रह्मने अपने स्वरूपसे अतिरिक्त और किसीको नहीं देखा) इत्यादि और भी अनेक श्रुतियां ब्रह्मातिरिक्त वस्तुका निषेध करती हैं, अतः यह परिवर्तन करना व्यर्थ है, 'सत्' और 'एव' का जो अकृत्रिम सम्बन्ध प्रतीत होरहा है यही ठीक है। और श्रुतिमें काल-वाचक 'अग्रे' शब्दके प्रयोग करनेका तात्पर्य यह नहीं कि सृष्टिसे पूर्व काल था, किन्तु सृष्टिसे पूर्व ब्रह्म ही था इस आशयको समझाना हो तो जबतक पूर्व प्रथम आदि किसी काल-वाचक शब्दका प्रयोग न किया जाय तबतक समझा नहीं सकते इसलिये यह सृष्टिसमयके व्यवहारानुसार काल-वाचक 'अग्रे' शब्दका प्रयोग किया गया है। और वस्तुतः **'कालरूपोऽवतीर्णः'** (अर्थ—कालरूप भगवान् प्रकट हुए) इत्यादि वचनोंके अनुसार हमारे मतमें काल भी ब्रह्मस्वरूप है, इसलिये सृष्टिसे पूर्व इसकी सत्ता माननेमें हमारी तो कोई हानि नहीं है, परन्तु तुम अपनी अभिमत अविद्याको ब्रह्मसे अभिन्न नहीं मानते, इसलिये तुह्मारे मतमें सृष्टिसे पूर्व ऐसी अविद्याकी सत्ता माननेमें अवश्य **'सदेवसौम्येदम्'** इस श्रुतिका विरोध है।

इसके अतिरिक्त **आत्मैवेदमग्र आसीत्**’ ‘**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते**’ इत्यादि सृष्टि–प्रकरणकी श्रुतियोंमें सर्वत्र आनन्द, आत्मा आदि शुद्धब्रह्म–वाचक शब्दोंके ही प्रयोग मिलते हैं, अविद्याके नामका कहीं लेश भी नहीं है। और इन श्रुतियोंके अर्थका निर्णय करनेवाले भगवान् वेदव्यास भी **गौणश्चेन्नात्मशब्दात्**’ **तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्**’ इत्यादि सूत्रोंके द्वारा ब्रह्मको ही कर्ता प्रमाणित करते हैं, इसलिये अविद्याको या अविद्या–युक्त ब्रह्मको कर्ता मानना अयोग्य है।

पूर्वपक्षी—सांख्य–वेत्ता जो केवल प्रकृतिकों ही सृष्टी–कर्त्री कहते हैं उसका ये उपर्युक्त सूत्र निषेध करते हैं, इसलिये इस विषयमें उपयोग नहीं होसकता कि अविद्या–युक्त सगुण ब्रह्म कर्ता नहीं है, शुद्ध ब्रह्म ही है।

सिद्धान्ती—व्यास–सूत्रोंके प्रारम्भमें ही ‘**अथातो ब्रह्म–जिज्ञासा**’ इस सूत्रसे भगवान् वेदव्यासने इस ग्रन्थमें हम निर्गुण ब्रह्मका विचार करेंगे यह प्रतिज्ञा की है, और इसके अनन्तर ही ‘**जन्माद्यस्य यतः**’ इस सूत्रसे ब्रह्मको सृष्टि–स्थिति–प्रलयोंका कर्ता बताया है, इसलिये ये सृष्टि, स्थिति, प्रलय कार्य निर्गुण ब्रह्मके हैं, सगुण ब्रह्मके नहीं हैं यही मानना ठीक है।

पूर्वपक्षी—ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करनेवाले वचन दो प्रकारके हैं–एक तो वे हैं कि जो ब्रह्मके शुद्ध स्वरूपका परिचय देते हैं, जैसे ‘**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**’ इत्यादि। दूसरे वे हैं जो केवल कार्योंके सम्बन्धसे ब्रह्मका परिचय कराते हैं, जैसे ‘**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**’ इत्यादि–इनमें प्रथमोक्त वचन साक्षात् ब्रह्म–स्वरूप–परिचायक होनेसे मुख्य हैं और अनन्तरोक्त केवल कार्य सम्बन्धसे ब्रह्मके उपलक्षक हैं इसलिये गौण हैं। इन्हीं गौणवचनोंमें ‘**गुणे त्वन्याय्यकल्पना**’ (अर्थ—गौण अंशमें लक्षणा, उपचार आदिकी कल्पना कीजाती है) इस न्यायसे पूर्वोक्त उपचारकी कल्पना की गई है, अतः इनके अर्थको स्पष्ट करनेवाला ‘**जन्माद्यस्य यतः**’ यह सूत्र निर्गुण ब्रह्मका स्वरूपलक्षण नहीं होसकता।

सिद्धान्ती—यदि तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्लीका ‘**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**’ यह वचन निर्गुण ब्रह्मका वर्णन करता है तो इसी प्रकरणके ‘**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः**’ इत्यादि अग्रिम वचन सगुण ब्रह्मसे सृष्टिकी रचना बतावें यह संभव नहीं, क्योंकि ऐसा माननेमें प्रकरण–विरोध है।

और सगुण निर्गुण ब्रह्म–भेदकी कल्पना कर गुणबोधिकाओंको सगुणब्रह्मपर और ब्रह्म–बोधिकाओंको निर्गुण–ब्रह्मपर माननेमें ‘**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**, (अर्थ—सभी वेद जिस ब्रह्मका वर्णन करते है) यह श्रुति भी बाधिका है, क्योंकि इसमें सभी वेद एक ही ब्रह्मका वर्णन करते हैं यह कहा है।

और जिनको तुम सगुण ब्रह्म मानते हो वे श्रीकृष्ण भी गीताके **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** इस वचनमें केवल अपने ही स्वरूपको सब वेदोंसे ज्ञेय बताते हैं। इसलिये सगुण निर्गुण ब्रह्म-भेद स्वल्प भी माननीय नहीं होसकता, कर्तृत्व आदि सब गुणोंको ब्रह्ममें वास्तविक मानना ही ठीक है।

वासनासे जगत्की प्रतीति।

(४) **पूर्वपक्षी**—कर्तृत्व आदि गुण ब्रह्ममें वास्तविक हैं यह तब संभव है जब कि ब्रह्म किसीका कर्ता सिद्ध हो, परन्तु अभी तो यही असिद्ध है, क्योंकि जिस जगत्को तुम ब्रह्मका कार्य मानते हो वह कोई वस्तु नहीं है, जैसे दिनमें देखे हुए पदार्थोंका एक हृदयमें चित्र अङ्कित होजाता है। जिसे शास्त्रोंमें वासना या संस्कार कहते हैं उससे स्वप्नावस्थामें अनेक पदार्थ दीखते हैं, इसी प्रकार कल्पान्तरमें या जन्मान्तरमें भ्रमसे देखे हुए पदार्थोंकी चित्तमें वासना रह जाती है और उसीके प्रकट होनेसे यह जगत् दृष्टि—गोचर होता है, वस्तुतः यह शुक्ति रजतके समान मिथ्या है, इसे किसी भी कर्ताकी आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई लोकमें या शास्त्रमें ब्रह्मका कार्य प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये ब्रह्ममें कर्तृत्व आदि गुणोंको वास्तविक बताना असङ्गत है।

सिद्धान्ती—मनुष्य प्रथम किसी वस्तुको देखता है तब इसकी वासना मनुष्यके हृदयमें उत्पन्न होती है, इसलिये यदि यह जगत् वासनासे उत्पन्न हुआ है तो यह बताओ कि यह वासना जिस अनुभवसे उत्पन्न हुई है वह अनुभव किस जगत्का है ?, क्योंकि यह जगत् तो उस समय था ही नहीं, यह तो अभी इस जन्मकी या इस कल्पकी वासनासे उत्पन्न हुआ है।

पूर्वपक्षी—जिस भ्रमात्मक अनुभवसे वासना उत्पन्न होती है उसका तथा वासनाका प्रवाह अनादि है, भ्रमसे वासना उत्पन्न होती है, वासनासे पुनः भ्रम होता है। इस समय जिस वासनासे जगत् प्रतीत होरहा है यह इससे पूर्वजन्मके भ्रमात्मक अनुभवसे उत्पन्न हुई है और वह अनुभव भी अपने पूर्वकी वासनासे उत्पन्न हुआ है, जैसे—बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है और वृक्षसे पुनः बीज होते हैं, इसी प्रकार यह इनका अनादि प्रवाह चलता रहता है। जिस जीवके साथ इन अनुभव वासनाओंका सम्बन्ध है वह भी अनादि है, इसलिये इनकी इस अखण्डित धारामें कभी कुछ बाधा नहीं आती।

सिद्धान्ती—मनुष्यको पण्यवीथिकामें (बाजारमें) पर्यटन करते हुए अनेक वस्तुओंका अनुभव होता है, परन्तु घर आनेके अनन्तर कुछ ही वस्तुओंका स्मरण

होता है, सबका नहीं होता, इससे प्रमाणित होता है कि सभी अनुभवोंसे वासना उत्पन्न नहीं होती, केवल निश्चयात्मक अनुभवोंसे ही होती है और जिन जन्मान्तरीय या कल्पान्तरीय अनुभवोंकी वासनाओंसे इस समय यह जगत् प्रतीत होरहा है वे सब निश्चयात्मक थे यह कह नहीं सकते, क्योंकि लोकमें कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं है, अतः वासनासे यदि जगत् प्रतीत होता है तो लोकमें कोई ऐसा उदाहरण भी दृष्टिगोचर होना चाहिये कि कोई दर्शनयोग्य स्थूलाकार पदार्थ एक मनुष्यको दीखता है और वहीं पासमें खडे हुए दूसरे अच्छे चक्षुष्मान् मनुष्यको नहीं दीखता है।

पूर्वपक्षी—कभी २ जिस वस्तुको उपेक्षा या संशयकी दृष्टिसे देखा हो उसका भी, यदि याद दिलानेवाला मिलै और मन लगाकर याद किया जाय तो स्मरण होता है, इससे मालूम होता है कि सभी अनुभवोंकी वासना (संस्कार) होती हैं। अत एव किसी भी वस्तुकी प्रतीतिमें बाधा नहीं होसकती।

सिद्धान्ती—कदाचित् किसी वस्तुका तुम्हारे कथनानुसार स्मरण हो भी जाता है, परन्तु सभीका नहीं होता है यह तो तुम भी स्वीकार करते हो, इससे सिद्ध होता है कि सब वासनाओंके रहनेपर भी उनका उदय नहीं होता है, अतः फिर भी हमारा पूर्वोक्तदोष वैसा ही रहा, क्योंकि वासनाओंके उदय हुए विना वस्तुकी प्रतीति नहीं होसकती।

पूर्वपक्षी—सब वासनाओंके उदय न होनेका कारण यही है कि उनके उदय होनेका साधन वर्तमान नहीं है, परन्तु जहाँ वर्तमान है वहाँ क्यों नहीं उदय होगा।

सिद्धान्ती—सब वासनाओंका जिससे उदय होता है वह साधन क्या है? यदि कोई दृश्य वस्तु है तो वह वस्तु जिस वासनासे दृश्य हुई है उसका उदय किससे हुआ ?, यदि काल, धर्माधर्म आदि कोई अदृश्य वस्तु है तो वह स्वयं वासनाका उदय नहीं करा सकती, किसी अन्य दृश्य वस्तुके द्वारा ही उदय करा सकती है, कैसा भी प्रबल पाप, पुण्य या समय क्यों न हो, परन्तु जबतक शुक्तिका दर्शन नहीं होता तबतक कभी भी रजत–दर्शनकी वासनाका उदय नहीं होसकता इसलिये पूर्वोक्त दोष फिर भी विद्यमान ही है।

और **'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'** इस सूत्रसे भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि जगत् स्वप्न–दृष्ट पदार्थोंके सदृश नहीं है, मिथ्या नहीं है इसलिये वासनासे जगत्का भ्रम होता है यह कहना सर्वथा असङ्गत है।

अविद्यासे जगत्की प्रतीति।

(५) **पूर्वपक्षी**—जैसे घटके सम्बन्धसे आकाश व्यापक भी परिच्छिन्न प्रतीत

होता है, इसी प्रकार अविद्याके सम्बन्धसे ब्रह्म अपनेको परिच्छिन्न, कर्ता, भोक्ता तथा अज्ञ मानता है । यही जीवका स्वरूप है ।

अविद्या ज्ञानकी आवरिका (छिपानेवाली) है इस कारण इसे अज्ञान कहते हैं, किन्तु यह ज्ञानाभाव-स्वरूपा नहीं है । यदि होती तो 'मैं अज्ञ हूँ' यह इसका प्रत्यक्ष न होता, क्योंकि अभाव, अनुपलब्धि प्रमाणसे प्रतीत होता है, प्रत्यक्षसे नहीं ।

इसी भावरूपा अविद्यासे जीवको विचित्र प्रपञ्चकी प्रतीति होती है । यह अघटितघटना पटीयसी है इस कारण प्रपञ्च-प्रतीति करानेमें इसे अन्य किसी सहायक की अपेक्षा नहीं है, और अविद्या-प्रतीत होनेसे ही यह प्रपञ्च (जगत्) असत्य है ।

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' यह श्रुति भी प्रपञ्चकी असत्यताका समर्थन करती है, क्योंकि यह मोक्ष-दशामें प्रपञ्चका निषेध करती है और यह तभी संभव है जब कि प्रपञ्च असत्य हो ।

सिद्धान्ती—सर्वज्ञ ब्रह्ममें ज्ञान-विरोधिनी अविद्याका सम्बन्ध हो नहीं सकता । और अविद्या जीवमें है ब्रह्ममें नहीं है यह कह नहीं सकते, क्योंकि ब्रह्म और जीवको तुम अभिन्न मानते हो । अतः जीव या ब्रह्मकी अविद्यासे जगत्की प्रतीति बताना सर्वथा अयोग्य है ।

जीव प्रतिबिम्ब नहीं है ।

(६) पूर्वपक्षी—मायामें जो चैतन्यका प्रतिबिम्ब है वह ईश्वर है । और वह सर्वज्ञ है, क्योंकि माया शुद्ध सत्त्व-प्रधाना होनेसे उसके ज्ञानका आवरण नहीं करती । और अविद्यामें जो चैतन्यका प्रतिबिम्ब है वह जीव है, और वह अज्ञ है, क्योंकि अविद्या मलिनसत्त्व-प्रधाना होनेसे ज्ञानका आवरण करती है ।

ये जीव ईश्वर और शुद्ध चैतन्य अविद्या और मायाके कारण व्यवहारदशामें परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं, और व्यवहारदशा पर्यन्त ही जीवकी अविद्यासे इस जगत्की प्रतीति होती है । परन्तु अविद्या, माया उपाधियाँ मिथ्या हैं इसलिये ये वस्तुतः अभिन्न हैं ।

सिद्धान्ती—रूप, रूपवान् तथा रूपवानमें रहनेवाले संयोग, विभाग आदि कुछ धर्म, इनका ही प्रतिबिम्ब होता है, तुम्हारा ब्रह्मात्मक शुद्ध-चैतन्य न रूप है, न रूपवान्, न उसमें रहनेवाला कोई धर्म, फिर प्रतिबिम्ब कैसे होसकता है ? । और प्रतिबिम्ब दर्पण आदि किसी स्वच्छ वस्तुमें होसकता है, अविद्या सदृश मलिन वस्तुमें

नहीं होसकता । और तुम्हारे कथनमें कोई श्रुति स्मृति पुराण आदि तो प्रमाण है ही नहीं, केवल कल्पनामात्र है, इसलिये कल्पना तो जो लोकानुकूल होगी वही मानी जायगी, लोकमें कहीं वायुका प्रतिबिम्ब काष्ठमें देखा होता तो हम तुम्हारी इस कल्पनाको भी मान लेते । अतः नीरूप ब्रह्मका मलिन अविद्यामें प्रतिबिम्ब बताना सर्वथा असङ्गत है ।

पूर्वपक्षी—आकाशमें रूपका कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु आकाशका प्रतिबिम्ब दर्पणमें होता है, इसलिये नीरूप ब्रह्मके प्रतिबिम्बका निषेध नहीं कर सकते । अविद्या यद्यपि मलिन है, परन्तु फिर भी एक ओर स्वच्छ है, इसलिये रजतपात्र जैसे अपने पृष्ठ भागमें स्थित घटका आवरण करता है और सम्मुख स्थित सूर्य चन्द्र आदिका प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, इसी प्रकार अविद्या भी आवरण और प्रतिबिम्बग्रहण दोनों कार्य कर सकती है । और ग्रहणके समय कज्जल—मलिन दर्पणमें भी सूर्यका प्रतिबिम्ब लोग देखते हैं, इसलिये अविद्या मलिन मान लीजाय, तथाऽपि इसमें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब मानना किसी भी प्रकार लोक—विरुद्ध नहीं होसकता ।

सिद्धान्ती—आकाशका प्रतिबिम्ब नहीं होता है, किन्तु आकाशमें जो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रोंकी प्रभा है उसीका प्रतिबिम्ब होता है, मनुष्य उसे भ्रमसे आकाशका प्रतिबिम्ब समझते हैं । अत एव अविद्या भले एक ओरसे स्वच्छ हो, परन्तु उसमें नीरूप ब्रह्मका प्रतिबिम्ब होना अवश्य लोक—विरुद्ध है ।

पूर्वपक्षी—आकाश—गत प्रभाका प्रतिबिम्ब होता है और आकाशका भी होता है, क्योंकि प्रभासे पृथक् जलमें आकाशकी प्रतीति सब किसीकों सर्वदा होती है । और सर्वदा होती है इसीलिये इसे भ्रम भी नहीं कहसकते, क्योंकि भ्रम वहीं माना जाता है जहां कभी भी बाधकों अवसर मिलता हो । अतः आकाश—दृष्टान्तके अनुसार नीरूप ब्रह्मका अविद्यामें प्रतिबिम्ब मानना ठीक है ।

सिद्धान्ती—यदि आकाशका प्रतिबिम्ब मान भी लिया जाय, तथाऽपि इसके दृष्टान्तसे ब्रह्मका प्रतिबिम्ब प्रमाणित नहीं होसकता, क्योंकि प्रभासहित ही आकाश प्रतिबिम्बित होता है और प्रभा रूप है, वह स्वरूपसम्बन्ध—विशेषसे आकाशमें रहती है इस कारण आकाश रूपवान् है, परन्तु ब्रह्म तो सर्वथा रूपसम्बन्धसे शून्य है ।

और वस्तुतः रूपवान्का ही प्रतिबिम्ब होता है इस नियममें 'रूपवान्' शब्दका दृश्य वस्तु अर्थ है । और आकाश रूपवान् नहीं है; तथाऽपि वस्तु—स्वभावसे दृश्य है, इसलिये इसका प्रतिबिम्ब होसकता है, परन्तु तुम्हारा ब्रह्म तो न रूपवान् है और न दृश्य है, इसलिये उसका प्रतिबिम्ब होना सर्वथा असम्भव है ।

पूर्वपक्षी—जैसे प्रतिबिम्ब होनेमें दृश्यत्वकी अपेक्षा है, ऐसे ही दृश्यत्वमें (दीखनेमें) भी रूपकी अपेक्षा है, यदि आकाश विना रूप ही वस्तुसामर्थ्यसे (स्वभावसे) दृश्य है तो वस्तुसामर्थ्यसे ही ब्रह्मका भी प्रतिबिम्ब क्यों नहीं ? ।

सिद्धान्ती—तुम्हारे कथनानुसार कदाचित् वस्तुसामर्थ्यसे ही प्रतिबिम्ब मान लिया जाय, परन्तु ब्रह्म और अविद्या दोनों व्यापक हैं और व्यापकका व्यापकमें प्रतिबिम्ब कहीं देखा नहीं है, इसलिये यहां भी नहीं मान सकते । और आकाशका प्रतिबिम्ब प्रत्यक्षसे मालूम होता है, इसलिये इस अंशमें वस्तु सामर्थ्यका स्वीकार करना ठीक है, परन्तु ब्रह्मका प्रतिबिम्ब तो किसी भी प्रमाणसे मालूम नहीं होता, इसलिये वस्तु–सामर्थ्यकी कल्पना नहीं होसकती ।

पूर्वपक्षी—जैसे आकाशका प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष–प्रमाणसे मालूम होता है, ऐसे ही ब्रह्मका प्रतिबिम्ब इस आथर्वण ब्रह्मोपनिषद्की श्रुतिसे मालूम होता है ।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

अर्थ—एक ही परमात्मा अविद्या–कल्पित अनेक वस्तुओंमें स्थित है, उपाधियोंके सम्बन्धसे वह जलचन्द्रके (जलस्थित चन्द्र–प्रतिबिम्बके) समान एक रूपसे और अनेक रूपोंसे प्रतीत होता है ।

यह श्रुति जलचन्द्र दृष्टान्तसे जीवको स्पष्ट ही प्रतिबिम्ब प्रमाणित करती है ।

ऐसे ही बृहदारण्यक तृतीय ब्राह्मणकी **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'** यह श्रुति भी जीवको प्रतिबिम्ब कहती है ।

इन दोनों श्रुतियोंसे जीव प्रतिबिम्ब प्रमाणित होता है और प्रतिबिम्ब **'तत्त्वमसि'** इत्यादि अभेदबोधिका श्रुतियोंके अनुरोधसे ब्रह्मका ही होसकता है इसलिये, ब्रह्म यद्यपि सर्वथा रूप–सम्बन्धसे शून्य है, तथापि इसका अविद्यामें प्रतिबिम्ब स्वीकार करना आवश्यक है ।

सिद्धान्ती—**'एक एव हि'** इस श्रुतिके जलचन्द्र–दृष्टान्तसे जीवको प्रतिबिम्ब प्रमाणित करना केवल भ्रम है, क्योंकि इसमें **'जलचन्द्र'** शब्दका अर्थ प्रतिबिम्ब नहीं है, किन्तु मण्डलाकारसे प्रतीत होते हुए जल–प्रविष्ट चन्द्रकिरण अर्थ है । और संपूर्ण श्रुतिका आशय यह है कि जैसे चन्द्र अपने किरणरूप अंशसे जलमें स्थित होकर किरण–मण्डल–रूपसे एक और कम्पादि–युक्त होकर नाना प्रतीत होता है, इसी प्रकार ब्रह्म प्रतिशरीर जीवरूपसे एक और इन्द्रियोंके रूपसे अनेक प्रतीत होता है ।

किसी शाखामें इस श्रुतिके **‘बहुधा’** पदके स्थानमें जो **‘दशधा’** पाठ है वह भी हमारे इसी अर्थको सूचित करता है, क्यों कि ‘दशधा’ का अर्थ दश इन्द्रिय हैं।

और जीवको प्रतिबिम्ब सिद्ध करनेके लिये **‘रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव’** इस श्रुतिका उपन्यास करना भी व्यर्थ है, क्योंकि बृहदारण्यक–तृतीय ब्राह्मणके प्रारम्भमें **‘योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्’** इस श्रुतिसे, और अन्तमें **‘तदेत्तद्ब्रह्म’** (अर्थ–यह जडात्मक जगत् ब्रह्म है) **‘अयमात्मा ब्रह्म’** (यह चेतनात्मक जगत् ब्रह्म है) इन श्रुतियोंसे ब्रह्मको सर्वरूप कहा है, इसलिये बीचमें ही यह एक श्रुति जीवको प्रतिबिम्ब प्रमाणित करनेके लिये उद्यत नहीं होसकती। और वस्तुतः इससे पूर्व **‘पुरश्चक्रे द्विपदः’** इस मंत्रमें जो द्विपद् चतुष्पद् पुर (शरीर) बनाकर ब्रह्मने उन्होंमें प्रवेश किया यह वर्णन है इससे ब्रह्मकी सर्वरूपतामें बाधा पहुंची, क्योंकि जो जिसे बनाता है अथवा जिसमें प्रवेश करता है वह उससे भिन्न होता है, और इसी बाधाकी निवृत्तिके लिये यह **‘रूपं रूपम्’** श्रुति प्रवृत्त हुई, अतः इसका प्रकरणानुकूल आशय केवल यही होसकता है कि ब्रह्म सबको बना २ कर सबका मूलरूप होगया, यह नहीं की प्रतिशरीर प्रतिबिम्ब होगया।

और इसी श्रुतिकी व्याख्या **‘अयं वै हरयः’** इस अनन्तरकी श्रुतिने की है और **‘अयं वै हरयः’** इसमे ब्रह्मकी सर्वरूपताका वर्णन स्पष्ट ही है, अतः इसका जीवकों प्रतिबिम्ब प्रमाणित करनेमें उपयोग नहीं होसकता।

पूर्वपक्षी—यह अनेक श्रुतियों से सिद्ध है कि अविद्या अघटितघटनापटीयसी है, इसलिये व्यापक होनेपर भी इसमें प्रतिबिम्ब होना असङ्गत नहीं है।

और उक्त श्रुतियोंमें स्पष्ट प्रतिबिम्ब–बोधक शब्दके न होनेसे अन्यथा अर्थ करना किसी प्रकार संभव है, परन्तु तृतीय कठवल्लीके प्रारम्भकी—

‘ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायाऽऽतपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः’

इस श्रुतिमें जीवके लिये स्पष्ट ही प्रतिबिम्बवाचक ‘छाया’ शब्दका प्रयोग किया गया है, अतः जीवको प्रतिबिम्ब मानना उचित ही है।

सिद्धान्ती—यदि यहां ‘छाया’ शब्दका प्रतिबिम्ब अर्थ होता तो यह श्रुति, तथा **‘द्वा सुपर्णा’** इत्यादि और भी श्रुतियां जीवके साथ हृदयाकाशमें परमात्माके स्थिति और प्रवेश न बताती। क्योंकि बिम्ब, प्रतिबिम्ब कभी एकत्र नहीं रहते, चन्द्रबिम्ब आकाशमें रहता है और उसका प्रतिबिम्ब जलमें रहता है।

इसके अतिरिक्त छाया, प्रतिबिम्ब दोनों एक वस्तु भी नहीं हैं, क्योंकि छाया सर्वदा प्रकाश–शून्य प्रदेशमें ही रहती है, परन्तु प्रतिबिम्ब प्रकाश–शाली प्रदेशमें भी रहता है इसलिये 'छाया' शब्द जीवकों प्रतिबिम्ब प्रमाणित नहीं कर सकता। और छाया प्रतिबिम्ब हो भी तो पर्वत, वृक्ष आदि किसी अन्य वस्तुकी होसकती है, परन्तु आतप–स्वरूप ब्रह्मका प्रतिबिम्ब छाया नहीं होसकती, क्योंकि जहां आतप रहता है वहां तो छाया रह ही नहीं सकती। अतः आनन्दांश–तिरोभावसे जो जीवमें विलक्षणता है उसका बोध करानेके लिये श्रुतिमें 'छाया' शब्दका प्रयोग किया गया है यही मानना उचित है।

पूर्वपक्षी—यदि 'छाया शब्दका प्रतिबिम्ब अर्थ नहीं होसकता तो आनन्द–तिरोभाव अर्थ भी नहीं होसकता, क्योंकि लोकमें या शास्त्रमें ऐसा अर्थ कहीं देखा नहीं है। यदि सम्पूर्ण श्रुतिके अर्थ विचारसे यही योग्य मालूम होता है तो प्रतिबिम्ब अर्थ भी अयोग्य नहीं है, कुछ विलक्षण छाया ही प्रतिबिम्ब है, इसलिये 'आनन्दतिरोभाव' अर्थकी अपेक्षा तो प्रतिबिम्ब अर्थ मानना ही अधिक अक्षरानुकूल है। और प्रतिबिम्ब जीवके साथ विम्ब–स्वरूप ब्रह्मके स्थिति प्रवेश, तो ये श्रुतियां कहती हैं, इसलिये मानना चाहिये।

सिद्धान्ती—अस्तु, श्रुति कहती है इसलिये किसी प्रकार मान भी लें, परन्तु ब्रह्मकों जीवके साथ हृदयाकाशमें प्रविष्ट होनेके लिये हृदयाकाश और जीवके दर्शनकी अपेक्षा है और तुम्हारे मतके अनुसार सर्वज्ञ ब्रह्मकों इनका दर्शन हो नहीं सकता, क्योंकि ये अज्ञान–कल्पित हैं, जिसको अज्ञान–स्वरूपा अविद्यासे भ्रम होता हो उसीके दृष्टि–गोचर होसकते है, अन्यके नहीं होसकते। लोकमें भी देखते हैं कि जिसके साथ दर्पण शुक्ति आदि दोषोंका सम्बन्ध रहता है उसीकों प्रतिबिम्ब, प्रातिभासिक रजत आदि अज्ञान–कार्योंका दर्शन होता है, इसलिये जीवको प्रतिबिम्ब माननेसे प्रथम इस विरोधका परिहार करना चाहिये। और ब्रह्म जीवकों यदि नहीं देखता है तो **'क्षरात्मानावीशते देव एकः'** यह श्वेताश्वतर उपनिषद्की श्रुति, तथा और भी 'ब्रह्म जीवका नियमन करता है' इस अर्थको कहनेवाली 'अन्तर्यामि–ब्राह्मण' की श्रुतियां व्यर्थ होजांयगी, क्योंकि देखे विना ब्रह्म जीवका नियमन नहीं करसकता। यदि इन श्रुतियोंके अनुरोधसे ब्रह्म हृदयाकाश और जीवकों देखता है यह मानते हो तो इससे ब्रह्म भी जीवके समान अज्ञ और भ्रान्त है यह सिद्ध होजायगा।

पूर्वपक्षी—जीवका नियमन शुद्ध ब्रह्म नहीं करता, किन्तु मायोपाधियुक्त सगुण ब्रह्म (ईश्वर) करता है, वह जैसे मायोपाधिके सम्बन्धसे सृष्टिकी रचना करता है, वैसे

ही जीवोंका नियमन हृदयाकाश–प्रवेश आदि कार्योंको भी करता है। और इससे वह भ्रान्त या अज्ञ सिद्ध होजायगा यह भी नहीं कहसकते, क्योंकि बडे २ विद्वान् अपना प्रतिबिम्ब दर्पणमें देखते हैं, परन्तु लोकमें उन्हें कोई भ्रान्त या अज्ञ नहीं कहता। अतः जीवको प्रतिबिम्ब माननेमें कुछ भी विरोध नहीं है।

सिद्धान्ती—जिस जीवको **'नित्यो नित्यानाम्' 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः'** इत्यादि अनेक श्रुतियां और स्मृतियां नित्य कहती हैं वह प्रतिबिम्ब नहीं होसकता, क्योंकि प्रतिबिम्ब मायिक–ज्ञान–स्वरूप मिथ्या वस्तु है।

और यह प्रतिबिम्ब भी अविद्या–गत है, इसलिये दर्पण, जल आदि आधारोंके नष्ट होनेपर उनके भीतर रहनेवाले सूर्य–चन्द्र–नक्षत्रोंके प्रतिबिम्ब जैसे नष्ट होजाते हैं, ऐसे ही मोक्ष–दशामें अपरोक्षज्ञानसे अविद्याका नाश होनेपर जीवका भी नाश होजायगा, जीवका फिर नित्यत्व कहां रहा ? ।

और मोक्षमें यदि जीवका नाश होता है तो उसके लिये किसी जीवकी प्रवृत्ति भी न होगी, क्योंकि स्वयं अपना नाश करना कोई भी नहीं चाहता, संसारमें कौन ऐसा मतिमान् मनुष्य होगा जो उपलब्ध सांसारिक सुखोंका परित्याग कर ऐसे जीव–नाश–स्वरूप भावी मोक्षकी आशासे रूक्ष काय–क्लेश–प्रद साधनोंमें प्रवृत्त होगा।

और मोक्षके साधन भी तुम्हारे मतमें अविद्या–कल्पित मिथ्या हैं, इसलिये यह समझकर भी मुमुक्षु इनमें प्रवृत्त न होंगे, क्योंकि स्वाप्निकभोजनसे तृप्तिकी आशा कोई भी नहीं रखता। और वस्तुतः मोक्ष–साधनमें क्या, किसी भी वेदोक्त साधनमें प्रवृत्ति नहीं होसकती और न किसी वेद–निषिद्धसे निवृत्ति होसकती है, क्योंकि इन साधनोंको कहनेवाले वेदको ही तुम मिथ्या कहते हो।

वैदिक साधनोंमें प्रवृत्ति।

(७) **पूर्वपक्षी—**जो वेद जीवको प्रतिबिम्ब–स्वरूप और जगत्को अविद्या–कल्पित कहता है, वही स्वर्गादि–साधनोंमें प्रवृत्ति करनेके लिये भी आज्ञा देता है, यदि वह जीवका और जगत्का स्वरूप–ज्ञान करासकता है तो प्रवृत्ति भी करासकेगा।

और वस्तुतः जिस समय स्वर्गादि–साधनोंमें जीव प्रवृत्त होता है उस समय उसे, जगत् मिथ्या है यह ज्ञान नहीं होता है, इसका उदय तो कर्मोपासनाओंके द्वारा चित्त शुद्ध होनेके अनन्तर होता है, इसलिये इससे प्रवृत्तिमें बाधा नहीं पहुंचसकती।

और यदि यह मान भी लिया जाय कि साधनोंमें प्रवृत्त होनेके समय मिथ्या–ज्ञान है, तथापि प्रवृत्तिका प्रतिरोध नहीं होसकता, क्योंकि प्रवृत्तिके समयमें स्वर्गादि–साध-

नोंका और जगत्का जो भ्रम–ज्ञान है वह प्रत्यक्षात्मक है और मिथ्या–ज्ञान केवल शाब्द–परोक्ष–है, इस प्रकार ये दोनों विजातीय हैं, और बाध्य–बाधक–भाव परस्पर सजातीयोंमें होता है, विजातीयोंमें नहीं होता, इसलिये जबतक इस भ्रान्ति–कल्पित जगत्के आधार–भूत ब्रह्मका प्रत्यक्ष नहीं होगा, तबतक जगत्को मिथ्या कहनेवाले किसी भी प्रमाण–वचनसे जगद्–भ्रमका बाध नहीं होसकता। और इस बाधसे अतिरिक्त और कोई प्रवृत्तिके प्रतिरोध होनेका कारण नहींहै ।

सिद्धान्ती—यज्ञोपवीत–ग्रहण करनेके अनन्तर ही अर्थ–सहित षडङ्ग वेदको अध्ययन करनेके लिये श्रुतिकी सब किसीको आज्ञा है, इसलिये तुम्हारे मतके अनुसार यदि वेदार्थ–ज्ञान संपादन किया जाय तो अवश्य ही स्वर्गसाधनोंमें प्रवृत्त होनेके समय स्वर्ग–साधन मिथ्या है यह ज्ञान रहेगा ।

और इस मिथ्या–ज्ञानसे साधनोंमें प्रवृत्त होनेके समय जगद्–भ्रमका बाध न भी हुआ, तथापि प्रवृत्ति नहीं होसकती, क्योंकि केवल जगद्–भ्रमका बाध ही प्रवृत्तिके प्रतिरोधका कारण नहीं है, किन्तु मिथ्या–ज्ञान भी है । लोकमें देखते हैं कि परिपक्वफलालङ्कृत आम्रवृक्षोंकी प्रतिच्छाया जलमें सब किसीको दृष्टि–गोचर होती है, परन्तु ये प्रतिबिम्बित आम्र–फल मिथ्या हैं ऐसा समझनेवाला कोई भी मनुष्य उनको लेनेके लिये उद्यत नहीं होता ।

और वस्तुतः इस मिथ्या–ज्ञानसे ब्रह्म–साक्षात्कार पर्यन्त जगद् भ्रमका बाध नहीं होसकता है–यह कथन भी असङ्गत है, क्योंकि बाध्य–बाधक–भाव सदा सजातीयोंमें ही रहता है और विजातीयोंमें नहीं रहता है यह नियम नहीं है । सूतका उत्तम वस्त्र देखनेसे रेशमी मालूम होता है, परन्तु स्पर्शसे उसकी परीक्षा होजाती है कि यह सूतका है, रेशमी नहीं है, यहां यह चाक्षुष–भ्रमका–बाध विजातीय स्पार्शन प्रत्यक्षसे भी होजाता है । इसी प्रकार यदि किसी मनुष्यको रात्रिके समय वृक्षमें या स्तम्भमें मनुष्यका भ्रम होजाता है तब भी स्पर्शसे बाधित होता है और कभी २ प्रामाणिक मनुष्यके वाक्यसे भी बाधित होजाता है । ऐसे और भी विजातीयोंमें बाध्य–बाधक–भाव होनेके अनेक उदाहरण हैं ।

और यदि सजातीय–विजातीय–कल्पना स्वीकार कर भी लीजाय, तथाऽपि इसका स्वर्ग–साधनोंकी प्रवृत्तिमें कुछ उपयोग नहीं है, क्योंकि जगत्का ज्ञान प्रत्यक्षसे होता है, परन्तु दर्श पौर्णमास ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ स्वर्ग–साधन हैं यह ज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं होता है, केवल वेदसे ही होता है, इसलिये शाब्द है और ‘प्रपञ्चान्तर्गत होनेसे स्वर्ग–साधन मिथ्या हैं, यह ज्ञान तो निःसन्देह ही शाब्द है, इसलिये ये दोनों भी

सजातीय हैं, इनमें परस्पर बाध्य–बाधक–भाव होसकता है, अतः तुम्हारे इस मतके अनुसार साधककी स्वर्गसाधन यज्ञोंमें किसी भी प्रकार प्रवृत्ति नहीं होसकती ।

और यदि प्रवृत्ति किसी प्रकार हो भी गई तो मिथ्या साधनोंसे वास्तविक फलका प्राप्त होना असम्भव है और स्वर्ग आदि नश्वर फलोंको साधनोंके समान मिथ्या कहसकते हो, परन्तु मोक्षको नहीं कहसकते, इसलिये ऐसे साधनोंसे मोक्षका लाभ तो अवश्य ही असम्भव है ।

और जगदाधार–भूत ब्रह्म–स्वरूपके प्रत्यक्ष होनेके अनन्तर जगत्के बाधकी आशा करना भी आकाश–कमलके मकरन्द–पानकी आशा करनेके सदृश है, क्योंकि ब्रह्मके प्रत्यक्षसे अहन्ता–ममतारूप संसारका बाध होता है, परन्तु इस जगत्का बाध नहीं होता है । और यदि जगत्का बाध होता तो ब्रह्म–साक्षात्कारके अनन्तर जनक आदि राजा राज्यादि कार्योंमें प्रवृत्त न होते ।

पूर्वपक्षी—यह द्वैत (प्रपञ्च) अनर्थ–रूप है और ब्रह्मके प्रत्यक्ष होनेसे इसका बाध होता है यह वेद कहता है, इसलिये इसे मिथ्या माननेकी आवश्यकता है, क्योंकि सत्यका बाध नहीं होसकता । और स्वर्ग–मोक्ष–साधन तथा वेद भी इसी द्वैत प्रपञ्चके अन्तर्गत हैं, इसलिये इन्हें भी मिथ्या मानना स्वतः प्राप्त है ।

और इनमें प्रवृत्ति तो हमारे मतके अनुसार अद्यावधि सभी मनुष्योंकी होरही है, इसलिये दो चार विरुद्ध युक्तियोंके प्रतापसे अब प्रतिबद्ध नहीं होसकती । और ये भलें मिथ्या हों, इनसे यदि वास्तविक फलका लाभ होसकता है तो प्रवृत्तिके प्रतिबद्ध होनेका कोई कारण नहीं है ।

ब्रह्म–साक्षात्कार होनेके अनन्तर भी जो जनक आदि राजाओंकी वैदिक कर्म तथा राज्यादि कार्योंमें प्रवृत्ति हुई थी उसका कारण यही था कि उनके कुछ प्रारब्ध कर्म शेष रहगये थे और प्रारब्ध कर्मोंका भोगके विना क्षय हो नहीं सकता, इसलिये जबतक वे शेष थे तबतक ब्रह्मज्ञानसे बाधित हुई अविद्याकी भी अनुवृत्ति बनी रही और उसके प्रभावसे प्रपञ्च तथा प्रपञ्चान्तर्गत साधनोंकी ऐसी प्रतीति होती रही जिससे वे लोक–शिक्षार्थ यज्ञादि कार्योंको सम्पादन कर सके, परन्तु इससे पप्रञ्च या साधनोंकी वास्तविकता प्रमाणित नहीं होसकती ।

सिद्धान्ती—ब्रह्म–साक्षात्कारसे अहन्ता–ममतारूप संसारका बाध अवश्य होता है, परन्तु प्रपञ्चका बाध होता है ऐसा वेदने कहीं नहीं कहा, इसलिये प्रपञ्चको मिथ्या मानकर उसके अन्तःपाती स्वर्गादि–साधनोंको मिथ्या मानना सर्वथा अयोग्य है ।

और **'कथमसतः सज्जायेत'** (अर्थ—असत्से सत् कैसे होगा) यह श्रुति कहती है कि मिथ्यासे सत्यका लाभ नहीं होसकता इसलिये इसके विरुद्ध साधनोंको मिथ्या मानकर इनसे स्वर्गादि फलोंकी प्राप्ति बताना सर्वथा विश्वसनीय नहीं होसकता ।

और इन स्वर्गमोक्ष—साधनोंका बोध करानेवाला वेद मिथ्या है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'वेदो नारायणः साक्षात्' यह श्रुति वेदको नारायण—स्वरूप कहती है और अबाधित—तात्पर्य होनेसे यह वेदकी प्रशंसा कीगई है यह संभव नहीं, क्योंकि शुक्ति—रजतके समान भ्रमसे प्रतीत हुएका तात्पर्य अबाधित नहीं होसकता । अत एव **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (सब वेदोंसे मैं ही (ब्रह्मही) मालूम होता हूँ) इत्यादि—स्मृतियोंका भी विरोध है, क्योंकि अज्ञान—कल्पितका ब्रह्म अर्थ होना भी असम्भव है । और अविद्या—कल्पित वस्तु जो अविद्यासे भ्रान्त होता है उसे स्वयं प्रतीत होजाती है इसलिये वेदको अविद्या—कल्पित माननेसे **'तेने ब्रह्म हृदा'** (अर्थ—परमेश्वरने ब्रह्माको वेद बताये) इत्यादि शास्त्र जो ब्रह्माको वेदोपदेश करना बताते हैं यह भी व्यर्थ होजायगा ।

जिसके अन्तर्गत होनेसे वेद और वेदोक्त—साधनोंको मिथ्या कहते हो वह प्रपञ्च भी मिथ्या नही हैं, यदि होता तो **'एतदात्म्यमिदं सर्वं'** यह श्रुति इसे ब्रह्मात्मक न बताती । और जो शुक्ति—रजतके समान मिथ्या है उसे कर्ताकी भी आवश्यकता नहीं है, फिर **'जन्माद्यस्य यतः'** आदि व्यास—सूत्र परमेश्वरको कर्ता क्यों बताते हैं ?, अतः प्रपञ्चको मिथ्या कहना ही मिथ्या है ।

अपरोक्ष ब्रह्म—ज्ञानसे अविद्याका बाध होनेपर भी प्रारब्धके प्रभाव से अविद्याकी अनुवृत्ति रहती है यह कथन भी 'मम मुखे जिह्वा नास्ति' के समान है । क्योंकि यदि अविद्या का बाध होगया तो फिर अनुवृत्ति किसकी ? यदि सबका बाध नहीं हुआ, प्रारब्धके प्रभावसे कुछ शेष है तो जो शेष है उसका नाश न होगा । क्योंकि अपरोक्ष ब्रह्म—ज्ञान के सिवा और कोई अविद्या—नाशक नहीं है ।

अविद्याकी बाधितानुवृत्ति ।

(८) **पूर्वपक्षी**—अविद्याका नाश होजाता है, परन्तु प्रारब्ध कर्मोंका भोग के विना क्षय नहीं होता है इसलिये भोगोचित प्रवृत्ति होनी ही चाहिये । जैसे—दण्ड हटा लेने पर भी कुलाल—चक्र कुछ समय—पर्यन्त घूमता ही रहता है इसी प्रकार अविद्या—नाशके अनन्तर भी प्रारब्ध—क्षय—पर्यन्त उचित कार्योंमें प्रवृत्ति होती रहती है ।

सिद्धान्ती—प्रारब्ध क्या अविद्या है ? या अविद्या—कार्य है ? या और ही कुछ ?

यदि अविद्या या अविद्या—कार्य हैं तो अविद्या—नाशके अनन्तर शेष कैसे रहेंगे? यद्यपि दण्ड हटा लेनेके अनन्तर वेग—वश कुलाल—चक्रमें भ्रमण—क्रिया होती रहती है, परन्तु प्रारब्ध तो अदृष्ट या कर्मरूप हैं, इनमें द्रव्यधर्म वेगका रहना संभव नहीं है, अतः प्रवृत्ति नहीं होसकती। और यदि प्रवृत्ति हो भी तो किसकी? क्योंकि अविद्या—प्रतिबिम्ब जीव अविद्या—नाशके अनन्तर रह ही नहीं सकता।

यदि इस दोषके भयसे अन्तःकरणमें भी चैतन्यका प्रतिबिम्ब मानें, तथाऽपि दोष—निवृत्ति नहीं होसकती, क्योंकि जबतक अन्तःकरण रहेगा तबतक प्रतिबिम्ब-भाव और अहंताके रहनेसे जीव संसारी ही रहेगा और अन्तःकरण नाशके अनन्तर तो परम मुक्ति ही होजायगी, अतः अविद्या या अन्तःकरण किसीमें भी चैतन्यका प्रतिबिम्ब मानों, परन्तु प्रवृत्ति और जीवन्मुक्तिकी न्याय—सङ्गत सिद्धि नहीं होसकती।

जीव आभास नहीं है।

(९) **पूर्वपक्षी—'अग्निर्यथैकः' 'एकधा बहुधा'** इत्यादि श्रुतियोंमें एक ही ब्रह्मकी नाना रूपोंसे प्रतीति होनेका वर्णन तुमकों भी सम्मत है। और ब्रह्म एक तथा निरवयव है इसलिये इसकी नाना प्रतीतिके ये दो ही प्रकार होसकते हैं,—प्रथम तो यह कि जैसे एक ही चन्द्र, जल, दर्पण आदि अनेक आधारोंमें प्रतिबिम्बित होकर अनेक रूपोंसे दृष्टि—गोचर होता है, ऐसे एक ही ब्रह्म अविद्याके अनेक प्रदेशोंमें या अन्तःकरणोंमें प्रतिबिम्बित होकर नाना—रूप होता है। दूसरा यह कि जैसे दृष्टिके बीच अङ्गुलि रखकर देखनेसे एक चन्द्रके दो चन्द्र मालूम होते हैं, ऐसे ही अविद्याके सम्बन्धसे एक ही ब्रह्म अनेक—रूप मालूम होता है—इन दोनोंमें यदि पहिला प्रकार कुछ दोषोंके कारण सम्मत नहीं है तो दूसरा मानना चाहिये, क्योंकि इसके सिवा और कोई गति नहीं है। और इस दूसरे पक्षमें **'जीवेशावाभासेन करोति'** यह नृसिंहोत्तरतापिनीकी श्रुति भी अधिक अनुकूल है, क्योंकि इसमें जीवके लिये स्पष्ट ही 'आभास' शब्दका प्रयोग किया गया है और भगवान् वेदव्यासने इसी श्रुतिके अर्थ—निर्णयकी दृष्टिसे जीव—प्रकरणमें **'आभास एव च'** इस सूत्रसे जीवकों आभास कहा है, इसलिये 'आभास' शब्दका अन्यथा अर्थ होना भी संभव नहीं है।

सिद्धान्ती—एक ही ब्रह्मकी अनेक रूपोंसे प्रतीति किस प्रकार होती है इसका उत्तर तो आगे जीव—निरूपणके प्रसङ्गमें मिलेगा, परन्तु यह निश्चित है कि अनेक रूपोंसे प्रतीति होनेकी सङ्गति चन्द्र—दृष्टान्तके अनुसार जीवकों आभास मानकर नहीं की जासकती, क्योंकि ब्रह्म और ईश्वर दोनों सर्वज्ञ हैं इनकों भ्रमसे अपने स्वरूपमें

या अन्य किसीके स्वरूपमें अनेकताकी प्रतीति नहीं होती । और आभास जीव, अनेकता प्रतीतिसे पूर्व प्रमाणित नहीं होसकते, जिसे अनेकता प्रतीत होती है वह प्रथम सिद्ध होजायगा तब ये सिद्ध होंगे । इनके अतिरिक्त और कोई ऐसा नहीं है जिसे तुह्मारे मतके अनुसार अनेकताकी प्रतीति होसके, अतः जीव आभास है यह सिद्ध नहीं होसकता ।

जीवकों आभास प्रमाणित करनेके लिये

'माया स्वाऽव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति'

अर्थ—माया अपनेसे अभिन्न संपूर्ण (क्षेत्राणि) शरीरोंको दिखाकर आभाससे अथवा आभासस्वरूप जीव और ईश्वरकों करती है ।

इस श्रुतिका उपन्यास करना भी व्यर्थ है, क्योंकि इसके 'दर्शयित्वा' पदसे व्याकरणानुसार क्षेत्रप्रदर्शनके समय जीव और ईश नहीं थे यह सिद्ध होता है और तुह्मारे जीव—ईशोंका तो क्षेत्र—प्रदर्शनके समय न रहना किसी प्रकार संभव नहीं है, क्योंकि वे अनादि हैं, इसलिये इसका अर्थ तुम अपने अभिप्रायानुसार नहीं कर सकते ।

वस्तुतः श्रुतिका अर्थ यह—है ब्रह्मकी मायाशक्ति ब्रह्मसे अभिन्न परिपूर्ण शरीरोंकों दिखाकर 'मैं देह हूँ' इस अध्यास के द्वारा (कार्येश्वर) ब्रह्मा और (कार्य—जीव) मनुष्यादि जीवोंकों बनाती है ।

इसी प्रकार **'आभास एव च'** इस सूत्रका भी आशय केवल इतना ही है कि आनन्दका तिरोभाव होजानेसे जीव ब्रह्म नहीं है, किन्तु चैतन्य आदि कुछ गुणोंसे ब्रह्मसदृश है, इसलिये ब्रह्माभास है । जैसे कि ब्राह्मणोपयुक्त विद्या, तप् आदि गुणोंके न होनेसे ब्राह्मण ब्राह्मणाभास कहा जाता है ।

अविद्या और ब्रह्मका सम्बन्ध नहीं होसकता

और अविद्याका ब्रह्ममें कोई ऐसा सम्बन्ध भी संभव नहीं है जिसके द्वारा ब्रह्म नाना प्रतीत होकर आभास शब्दसे व्यवहार करने योग्य हो, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्ममें ज्ञानाच्छादिनी अविद्याका अध्यास (अविद्याके अज्ञत्वादि—धर्मोंको अपनेमें मानना) तो हो ही नहीं सकता, संयोग भी जहाँ दो पृथग् वस्तुओंमें से दोनों या एक चल कर परस्पर मिलती हैं वहीं होता है । ब्रह्म और अविद्या दोनो व्यापक हैं दोनोंका या दोनोमेंसे किसी एकका चलकर परस्पर मिलना सर्वथा असम्भव है । स्वरूप—सम्बन्ध

भी नित्य होनेसे मानने योग्य नहीं है, क्योंकि नित्यका नाश न होनेसे मोक्षका होना ही सर्वथा असम्भव होजाता है।

अविद्या—सम्बन्ध (बन्ध) और जीवकी अनादिताका खण्डन

और यह सम्बन्ध, अविद्या तथा जीव इन तीनोंको तुम अनादि मानते हो और अविद्या–सम्बन्ध ही जीवके जीव–भावमें कारण है यह भी कहते हो, परन्तु अनादि जीवके जीव–भावमें अविद्या–सम्बन्ध कारण हो नहीं सकता, क्योंकि अनादि किसी भी कारणकी अपेक्षा नहीं करता। अत एव अविद्याका ब्रह्म या जीव किसीके भी साथ तुह्मारे मतके अनुसार सम्बन्ध सिद्ध नहीं होसकता और न जीव आभास प्रमाणित होसकता है।

पूर्वपक्षी—'बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादिः' (अर्थ–इस जीवका अविद्या–कृत बन्ध अनादि है) इस एकादश–स्कन्धके वचनसे यह सिद्ध होता है कि 'अविद्या–सम्बन्ध, जिसे कि बन्ध कहते हैं यह अनादि है, तथाऽपि अविद्याका किया हुआ है' अतः इसमें तर्क करनेकी आवश्यकता नहीं है। और यह सम्बन्ध अनादि है इसीलिये जीवको भी अनादि मानना आवश्यक है।

सिद्धान्ती—जैसे कल्पके अन्तमें इन्द्र आदि देवोंके जीवनका अन्त होजाता है, तथाऽपि अधिक काल पर्यन्त जीवित रहते हैं, इसकारण इनको अमर कहते हैं, इसी प्रकार इस अविद्या–कृत बन्धका भी सृष्टिके प्रारम्भमें जन्म होता है, इसलिये यह वस्तुतः अनादि नहीं है, तथापि बहुत प्राचीन है, इस कारण **'बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादिः'** इत्यादि शास्त्र–वचन इसको अनादि कहते हैं।

और यदि यह वस्तुतः अनादि होता तो शास्त्र–वचन इसको अविद्या–कृत न कहते, क्योंकि कारणकी अपेक्षा न होनेसे अनादि अविद्या–कृत नहीं होसकता।

पूर्वपक्षी—अनादि जीवका बन्ध भी अनादि ही होना चाहिये। यदि अनादि नहीं है तो कुछ समय जीवको बन्ध न रहा इसका क्या कारण? और बन्ध न रहा उस समय जीव कैसा था? मुक्त था यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि मुक्तको फिर बन्ध नहीं होसकता, यदि बद्ध है तो बन्ध अनादि सिद्ध होगया। और मुक्त भी नहीं बद्ध भी नहीं यह तो कह नहीं सकते। क्योंकि जीवकी कोई तीसरी अवस्था प्रसिद्ध नहीं है।

सिद्धान्ती—जीवको बन्ध न रहा इसमें ब्रह्मकी इच्छा ही कारण है, क्योंकि जो बन्ध करती है वह अविद्या भगवान्‌की शक्ति है, भाव–रूप अज्ञान नहीं है और शक्ति शक्तिमान् के इच्छानुसार ही काम करती है। अत एव शुक सनक आदि नित्यमुक्त

हैं, क्योंकि भगवान्‌की इच्छा उनको बद्धावस्थामें रखनेकी नहीं है । ऐसे ही विद्या भी भगवान्‌की शक्ति है यह भी भगवान्‌के इच्छानुसार ही मोक्ष देती है और मोक्षके शम—दमादि अन्य साधन भी भगवान्‌के इच्छानुसार ही मोक्षमें सहायक होते हैं, इसलिये बन्ध के समान मोक्ष भी ऐच्छिक है, स्वाभाविक नहीं है और बन्धसे पूर्व जीवब्रह्म—स्वरूप रहता है, इसलिये बन्धकों अनादि माननेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है ।

और भावाज्ञान—स्वरूपा अविद्यासे यदि ब्रह्म अनादि बद्ध है तो यह बताना चाहिये कि अविद्याका सम्बन्ध ब्रह्मके किसी एकांशमें है या सर्वांशमें ? एकांशमें है यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि व्यापक अविद्याका निरवयव ब्रह्मके एकांशमें सम्बन्ध होना सर्वथा असम्भव है, यदि सर्वांशमें है तो सभी ब्रह्म जीव होगया, व्यावहारिक दशामें भी जीव ईश्वर आदि कुछ विभाग ही न रहा । अतः उक्त अविद्याका ब्रह्ममें अनादि—सम्बन्ध (बन्ध—नामक) मानना सर्वथा असङ्गत है । अत एव जीव भी आभास प्रमाणित नहीं होसकता ।

पूर्वपक्षी—छान्दोग्य उपनिषद्‌का **'तत्त्वमसि'** यह महावाक्य कहता है कि जीव और ब्रह्म एक है और जीव, ब्रह्म का एक होना तभी संभव है, जब कि अविद्याके सम्बन्धसे अनेक—रूपोंमें प्रतीत होते हुए ब्रह्मकों ही जीव मानें, अतः लौकिक तर्कोंसे संगत न होनेपर भी उक्त महावाक्यके अनुरोधसे जीवकों आभास मानना अवश्यक है ।

'तत्त्वमसि' वाक्यके अर्थका विचार.

सिद्धान्ती—तुम **'तत्त्वमसि'** इसकों महावाक्य किस आशयसे कहते हो ? क्या यह प्रकरणके संपूर्ण अर्थकों संगृहीत कर कहता है, इस कारण महावाक्य है ? अथवा वाक्योंका समुदाय है इस कारण ?

पूर्वपक्षी—संपूर्ण प्रकरणका तात्पर्य जीवकों ब्रह्म कहना है और यही **'तत्त्वमसि'** इसका अर्थ है, इसलिये महावाक्य है ।

सिद्धान्ती—संपूर्ण प्रकरणका तात्पर्यार्थ जीवकों ब्रह्म कहना नहीं है, किन्तु ब्रह्मकों सर्वरूप कहना है, क्योंकि प्रकरणके प्रारम्भमें श्वेतकेतुकों उसके पिताने यह कहा है कि 'तुमने अपने गुरुओंसे उसकों भी (अर्थात् ब्रह्मकों) पूछा है जिसके जाननेसे सभी (जगत्) मालूम होजाता है, जैसे एक मृत्तिकापिण्ड (मिट्टीका डेला) मालूम करलेनेसे सब मृत्तिकाएँ मालूम होजाती हैं' परन्तु यह एक—विज्ञानसे सर्व—विज्ञान तभी संभव है जब कि मृत्तिकारूपसे सब मृत्तिका जैसे एक हैं—परस्पर भिन्न नहीं है—इसी प्रकार ब्रह्म और जगत् परस्पर भिन्न न हो, इसलिये इनका अभेद प्रमाणित करना आवश्यक हुआ और अभेद घट—मृत्तिका—दृष्टान्तके अनुसार उपादान

कारणका (जैसे घडेकी मिट्टी) उपादेय कार्यके (जैसे मिट्टीका घडा) साथ ही होसकता है, इसलिये प्रथम **'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'** इस श्रुतिसे जगत्का ब्रह्म ही उपादान कारण है यह कहा और आगे ब्रह्मसे ही संपूर्ण जगत्की सृष्टि कहकर उपादेय जगत्के साथ उपादान ब्रह्मका अभेद सिद्ध कर दिखाया। इसलिये संपूर्ण प्रकरणका अर्थ ब्रह्म सर्व जड–जीवात्मक जगत्के रूपमें परिणत होगया–अर्थात् सर्वरूप होगया–यही होसकता है। और इस अर्थको केवल तुह्मारा **'तत्त्वमसि'** यह चतुरक्षर वाक्य नहीं कहता, किन्तु **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'** ये अठारह अक्षर कहते हैं, इसलिये इतना महावाक्य है; 'तत्त्वमसि' यही महावाक्य नहीं है।

इस महावाक्यका अर्थ इस प्रकार है–(सर्वं) सब (इदं) प्रत्यक्ष जड पदार्थ (ऐतदात्म्यम्) ब्रह्म–स्वरूप है, (तत्) जिसकी सृष्टि पहिलें कही वह यह जगत् (सत्यं) सत्य है, क्योंकि (सः) वह ब्रह्म (आत्मा) जड और जीवोंका वास्तविक स्वरूप है, तूं (तत्त्वं) ब्रह्म–स्वरूप (असि) है।

पूर्वपक्षी—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इसमें 'सर्व'पदसे जड और जीव दोनों का भी बोध होसकता है, इसलिये यह वाक्य केवल जडको ही ब्रह्मस्वरूप प्रमाणित करता है यह सङ्कोच नहीं कर सकते। और 'ऐतदात्म्य'–पदका ब्रह्म–स्वरूप अर्थ करना भी असङ्गत है। इसी प्रकार 'तत्सत्यम्' यहाँ 'तत्' शब्दका जगत् अर्थ मानना भी अयोग्य है, क्योंकि इसी के समीप 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें 'तत्' शब्दका ब्रह्म अर्थ है और जड–पदार्थोंका उत्पन्न होना नष्ट होना प्रत्यक्षसे देखते हैं, इसलिये इन्हें सत्य मान भी नहीं सकते। 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें भी 'तत्' और 'त्वं' दोनों पद पृथक् स्पष्ट मालूम होते हैं, इसलिये 'तत्त्वं' इतना एक पद मान कर 'ब्रह्म–सम्बन्धि' यह अर्थ कहना भी साहसमात्र है।

सिद्धान्ती—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' इसमें सर्व–पदसे जड और जीव दोनोंका बोध नहीं होसकता। क्योंकि सर्वशब्दके साथ 'इदम्' शब्द भी है और यह केवल प्रत्यक्ष वस्तुका ही वाचक है, इसलिये 'सर्वम्' और 'इदम्' दोनो मिलकर केवल प्रत्यक्ष जड–पदार्थ ही का बोध करा सकते हैं, अप्रत्यक्ष जीवोंका नहीं।

और 'ऐतदात्म्य' शब्दका ब्रह्म–स्वरूप अर्थ करना भी असङ्गत नहीं है, किन्तु सङ्गत ही है, क्योंकि 'ऐतदात्म्य' शब्दके (त्म्य) इस अक्षरमें जो 'य' दीखता है यह भाव–प्रत्ययका है और भाव–प्रत्ययका अर्थ, लोकमें वस्तुके भीतर रहनेवाला धर्म होता है, जैसे–'दयालुता' शब्दके भाव प्रत्यय 'ता' का अर्थ दयालु पुरुषके भीतर रहनेवाला दया धर्म है, अतः यहाँ भी 'ऐतदात्म्य' शब्दके अन्तर्गत 'य' इस भाव प्रत्य

यका धर्म अर्थ है और ब्रह्म–प्रकरण होनेसे ‘एतत्’ शब्दका भी ब्रह्म अर्थ मानना ही उचित है, इसलिये संपूर्ण ‘ऐतदात्म्य’ शब्दका ब्रह्म–धर्म अर्थ मानते हैं। ऐसे ही ‘तत्त्वमसि’ वाक्यमें ‘त्वं’ भावप्रत्ययका धर्म अर्थ है और ‘तत्’ पदका ब्रह्म अर्थ है इसलिये समुदित ‘तत्त्वं’ पदका ब्रह्म–धर्म अर्थ ही होसकता है। और यह हमारे अभिप्रायके अनुसार उचित ही है, क्योंकि जड और जीव दोनोंको हम ब्रह्मके धर्म–स्वरूप ही मानते हैं। केवल इतना ही भेद है कि जड सदंश–स्वरूप है और जीव चिदंश–स्वरूप है, अतः ‘ऐतदात्म्यं’ यहाँ भावप्रत्ययका सदंश रूपधर्म अर्थ है और ‘तत्त्वमसि’ यहाँ चिदंश–रूप धर्म अर्थ है। परन्तु जैसे मिश्रीकी गौ के नाक, कान, सींग, पूंछ सभी मिश्री हैं, ऐसे ही ब्रह्मके धर्म भी ब्रह्म ही हैं, इसलिये ब्रह्म–धर्म–स्वरूप जड जीवोंको भी ब्रह्म–स्वरूप कह सकते हैं। अत एव ‘तत्त्वमसि’ वाक्यमें ‘तत्’ ‘त्वं’ ऐसे दो पद मान कर ‘तूं ब्रह्म हैं’ ऐसा अर्थ करना भी विरुद्ध नहीं हैं, परन्तु जडकों ब्रह्म–स्वरूप कहनेवाले ‘ऐतदात्म्यम्’ इस वाक्यमें भावप्रत्यय है इस लिये जीवकों ब्रह्म–स्वरूप कहनेवाले ‘तत्त्वमसि’ इस वाक्यमें भी भावप्रत्ययके होनेकी ही अधिक संभावना है और अर्थमें कोई विशेष अन्तर भी नहीं है, इसलिये ‘तत्त्वम्’ एक पद मान कर व्याख्या की है।

और ‘तत्सत्यम्’ इसमें भी ‘तत्’ शब्दका जड जगत् ही अर्थ मानना योग्य है। क्योंकि ब्रह्म तो **‘असदेवेदमग्र आसीत्’ ‘कथमसतः सज्जायेत’** इत्यादि शङ्का–समाधानोंसे प्रथम ही सत्य सिद्ध होगया है, किन्तु जड जगत्का **‘सज्जायेत’** यहाँ सत्पदसे बोध कराने पर भी प्रत्यक्षसे इसमें पदार्थ उत्पन्न होते और नष्ट होते दीखते हैं इसलिये इसकी सत्यतामें शङ्का होती है और ‘ऐतदात्म्यम्’ इस श्रुतिसे इसे ब्रह्म–स्वरूप कहना भी उचित नहीं मालूम होता, इसलिये जगत्कों सत्य कहना आवश्यक है ।

जगत्कों सत्य कहनेसे यह सिद्ध होता है कि इसमें जो उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति होती है यह केवल भ्रम है, वस्तुतः सभी पदार्थ सर्वदा वर्तमान हैं, केवल आविर्भाव तिरोभाव होते रहते है । इसलिये जगत्कों अविद्या–कल्पित कहना सर्वथा असङ्गत है ।

आविर्भाव-तिरोभाव-विचार ।

पूर्वपक्षी—उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति भ्रम नहीं है । क्योंकि यदि भ्रम होती तो कदाचित् बाध होता (प्रतीत न होती) । यदि आविर्भाव और तिरोभाव ही उत्पत्ति और विनाशके स्वरूपमें प्रतीत होते हैं तो आविर्भाव–तिरोभाव–कल्पनासे लाभ ही क्या? क्योंकि उत्पत्ति, विनाशोंके स्थानापन्न होनेसे जो स्वरूप उत्पत्ति–विनाशोंका, वही इनका । अतः इनसे जगत्की सत्यताका निर्वाह नहीं होसकता ।

सिद्धान्ती—आविर्भाव तिरोभाव उत्पत्ति–विनाशोंके स्थानमें प्रतीत होते हैं, परन्तु इनका स्वरूप उत्पत्ति–विनाश–सदृश नहीं हैं, क्योंकि तुम, असत्की (जो वस्तु प्रथम विद्यमान नहीं है) उत्पत्ति होती है और नाशके अनन्तर भी वस्तु असत् होजाती है यह कहते हो और हम वर्तमान ही वस्तुका कारणोंके द्वारा आविर्भाव होता है और तिरोभावके अनन्तर भी वस्तु–सत्ता रहती है यह मानते हैं. इसलिये आविर्भाव तिरोभाव और उत्पत्ति विनाशोंके स्वरूपमें बहुत अन्तर है, इनसे जगत्की सत्यतामें बाधा नहीं आ सकती ।

(१०) **पूर्वपक्षी**—अस्तु जगत् नित्य ही सही, परन्तु आविर्भाव तिरोभाव नित्य हैं ? या अनित्य ? यदि नित्य हैं, तो ये परस्पर विरुद्ध–स्वभाव हैं, इसलिये प्रत्येक वस्तुमें न रह सकेंगे, क्योंकि लौकिक व्यवहारमें आना ही आविर्भावका स्वरूप है और लौकिक–व्यवहारमें न रहना ही तिरोभावका स्वरूप है और एकही वस्तु सर्वदा लौकिक व्यहारमें रहती है और नहीं भी रहती है यह संभव नहीं । यदि अनित्य हैं तो संपूर्ण जगत् ब्रह्म–स्वरूप है इस सिद्धान्तका भङ्ग होगया, क्योंकि आविर्भाव तिरोभाव जगत्के अन्तर्गत हैं और अनित्य होनेसे ब्रह्म स्वरूप नहीं होसकते ।

आविर्भाव तिरोभाव ब्रह्मके शक्तिरूप हैं ।

सिद्धान्ती—जैसे जगत् ब्रह्म–स्वरूप होनेसे नित्य है, ऐसे ही आविर्भाव तिरोभाव भी '**आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः**' (अर्थ—आविर्भाव और तिरोभाव ये दो भगवान्की शक्तियाँ है) इस वाक्यके अनुसार ब्रह्मके शक्तिरूप होनेसे नित्य हैं । जैसे नित्य जगत्के आविर्भाव तिरोभाव ब्रह्मकी इच्छानुसार होते हैं, ऐसे ही नित्य आविर्भाव तिरोभाव भी ब्रह्मकी इच्छानुसार क्रमशः नियत–समय–पर्यन्त ही प्रतीत होते हैं, सर्वदा नहीं होते, इसलिये इन दोनों विरुद्ध धर्मोंका एक ही वस्तुमें रहना अनुचित नहीं है ।

पूर्वपक्षी—आविर्भाव तिरोभाव ब्रह्मके शक्ति–स्वरूप नहीं होसकते, क्योंकि व्यवहार–दशामें रहना, न रहना प्रापञ्चिक पदार्थोंका धर्म है । और जो ब्रह्मकी शक्ति है वह ब्रह्मका त्याग कर घट–पटादि प्रापञ्चिक पदार्थोंमें रह नहीं सकती । किसी प्रकार तुह्मारे आग्रहसे मान भी लें तो उक्त वाक्यके अनुसार आविर्भाव–तिरोभाव–नामक दो ही शक्तियां सिद्ध होती हैं, इसलिये वस्तु मात्रका आविर्भाव–और तिरोभाव एक होनेसे तुह्मारे मतके अनुसार एक ही साथ सबकों उत्पन्न होना चाहिये और एक ही साथ मरना चाहिये ।

और नित्य आविर्भाव तिरोभावोंकी सर्वदा प्रतीति न होनेमें ब्रह्मकी इच्छाकों कारण कहना भी व्यर्थ है, क्योंकि ब्रह्मकी इच्छा भी नित्य है, वह नियत–समय–पर्यन्त ही प्रतीति नहीं करा सकती।

आविर्भावका आविर्भाव तो तुम मान ही नहीं सकते, क्योंकि उसका भी नित्य होना आवश्यक है इसलिये उस आविर्भावका भी और आविर्भाव मानना पडेगा, ऐसे ही नित्यत्व–सिद्धिके लिये आविर्भावके आविर्भाव अनन्त मानते रहोगे, कहीं विश्राम ही न होगा, अनवस्था हो जायगी।

सिद्धान्ती—जगत् ब्रह्महीका स्वरूप है, इसलिये ब्रह्म–शक्तियोंका इसमें रहना अनुचित नहीं। जैसे ब्रह्म अनेक–रूप है, ऐसे ही ब्रह्म की शक्तियाँ भी अनेक–रूप हैं इस कारण एक २ होनेपर भी आविर्भाव–तिरोभावोंका प्रति–वस्तु भिन्न २ प्रतीत होना असङ्गत नहीं है। इसी अर्थकों **'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'** (अर्थ–इस परमात्माकी विविध और अद्भुत शक्ति सुनी जाती है) यह श्रुति और **'विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति'** (परमात्मा नाना–शक्ति होकर अनेक–रूप प्रतीत होता है) यह भागवतका वाक्य कहता है। अतः आविर्भावतिरोभावोंके ब्रह्मशक्ति–स्वरूप होनेमें और एक होनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

आविर्भाव तिरोभाव परस्पर सहस्थितिके विरोधी नहीं है।

(१२) आविर्भाव तिरोभाव और ब्रह्मकी इच्छाके नित्य होनेपर भी आविर्भाव–तिरोभावोंकी नियत–समय–पर्यन्त प्रतीति होनेमें कोई बाधा नहीं है, क्योंकि "अमुक वस्तु अमुक समयमें अमुक देशमें अमुक कारणोंके द्वारा प्रकट करूंगा" ऐसी परमात्माकी इच्छाका जो वस्तुके साथ सम्बन्ध है उसे हम आविर्भाव कहते हैं और "अमुक वस्तु अमुक समयमें अमुक देशमें अमुक कारणोंके द्वारा तिरोहित हो" ऐसी परमात्माकी इच्छाका जो वस्तुके साथ सम्बन्ध है इसे तिरोभाव कहते हैं। जैसे तुम व्यवहार–दशामें आनेकों ही आविर्भाव और व्यवहार–दशामें न रहनेकों ही तिरोभाव कहते हो, ऐसे हम नहीं कहते। कारण यही कि वेदकी अपेक्षा व्यवहार दुर्बल है, और वेदमें **'एकोऽहं वहु स्यां प्रजायेय'** (अर्थ–मैं एक हीं अनेक–रूप होजाऊँ) इस श्रुतिसे आविर्भावका स्वरूप और **'हन्त तिरोऽसानि'** (अर्थ–मैं तिरोहित होजाऊँ) इस श्रुतिसे तिरोभावका स्वरूप 'इच्छा–विषयत्व' रूप ही बताया है, इसलिये इसका अनादर कर केवल व्यवहारके अनुरोधसे तुह्मारे कथनानुसार आविर्भाव और तिरोभावका स्वरूप स्वीकार नहीं करसकते। और आविर्भाव तिरोभाव इच्छा–विषयत्व स्वरूप

हैं, इसीलिये इनका प्रत्येक वस्तुमें साथ रहना भी विरुद्ध नहीं है, और न नित्य होनेपर भी इनका आविर्भाव स्वीकार करनेकी आवश्यकता है ।

उपर्युक्त परमात्माकी इच्छाके आकारमें 'अमुक' शब्दसे देश, काल, कारण आदि सब पदार्थोंके विशेष–स्वरूपका ही उल्लेख किया है, इसलिये ईश्वरेच्छाके नित्य होनेपर भी किसी भी वस्तुकी सर्वदा आविर्भूत रहनेकी या तिरोभूत रहनेकी आपत्ति नहीं है । जिस देश–विशेष में, कालविशेषमें जैसे कारणोंके द्वारा जिस वस्तुकों जिस प्रकार प्रकट करनेकी भगवान् की इच्छा है वह वैसे देशविशेषमें काल–विशेषमें वैसे ही कारणोंके द्वारा उस प्रकार प्रकट होती है । ऐसे ही देशविशेषमें कालविशेषमें तिरोहित भी होती है । अत एव सार्वदिक वस्तु–प्रतीतिकी आपत्तिको दूर करनेके लिये आविर्भावका आविर्भाव स्वीकार करनेकी भी आवश्यकता नहीं है ।

पूर्वपक्षी—परमात्माकी इच्छाके आकारमें देश, काल, कारण आदि पदार्थोंके विशेष–स्वरूपके निवेशसे भी (रखनेसे) कोई लाभ नहीं, क्योंकि तुह्मारे मतमें सामान्य और विशेष सभी नित्य हैं, इसलिये परमात्माकी जिस दिन जिस घटी वस्तुकों प्रकट या तिरोहित करनेकी इच्छा है वह दिन और घटी सर्वदा विद्यमान हैं फिर क्यों नहीं वस्तु सर्वदा आविर्भूत और तिरोभूत रहेगी ।

सिद्धान्ती—परमात्माकी पूर्वोक्त इच्छाके आकारमें देश–विशेष काल–विशेष प्रकट ही लिये गये हैं और घट पट आदि पदार्थोंके समान इनकी प्रकट दशाका भी परमात्माकी इच्छाके नियमनसे सर्वदा सब किसीकों अनुभव नहीं होता, इसलिये कोई भी वस्तु सर्वदा सब किसीके लिये आविर्भूत या तिरोभूत नहीं रह सकती ।

पूर्वपक्षी—इच्छा–विषय देश काल कारणोंको प्रकट माननेसे भी दोषका परिहार नहीं होसकता, क्योंकि प्रकट भी नित्य ही हैं ।

सिद्धान्ती—अवश्य नित्य हैं, परन्तु सब किसीके लिये प्रकट नहीं रहते, इसलिये उन देश–कालोमें वर्तमान वस्तुका सब किसीकों अनुभव भी नहीं होसकता और जिनके लिये प्रकट रहते हैं उनकों अनुभव होता ही है । अत एव **'अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम् । विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः'** (अर्थ–योगी, भूत भविष्यत् तथा अदृश्य वर्तमान वस्तुकों भी अच्छी तरह देखते हैं) यह वचन योगियोंके भूत–भावि–पदार्थानुभवका वर्णन करता है ।

(१०) **पूर्वपक्षी**—योगियोंकों योग–बलसे असत् ही वस्तुका प्रत्यक्ष होजाता है, वस्तुतः उत्पत्तिसे पूर्व और नाशके अनन्तर वस्तु–सत्ता रहती नहीं । यदि रहती तो दिव्य–ज्ञान–संपन्न देव मुचुकुन्दकों यह कैसे कहते कि (**'प्रजाश्च तुल्य–कालीया**

नाधुना सन्ति कालिताः)' तुह्मारे समयकी प्रजा नष्ट होगई अब नही हैं, अतः प्रकट–दशा अप्रकट–दशाकी कल्पना कर वस्तुकों नित्य सिद्ध करना असङ्गत है ।

योगियोंको वर्तमान वस्तुका ही प्रत्यक्ष होता है ।

(१२) **सिद्धान्ती**—यदि योगियोंकों असत् वस्तुका प्रत्यक्ष होता है तो वह प्रत्यक्ष भ्रम है, प्रमाण नहीं होसकता और जो योग, शास्त्र–विहित साधन है, जिससे परमात्माका प्रत्यक्ष होता है उससे भ्रम नहीं होसकता । और **'प्रजाश्च तुल्यकालीया'** इस वचनमें तो सर्व–साधारण–दृष्टिसे जो प्रजा–तिरोभाव प्रतीत होता था उसका बोध कराया है, इसलिये **'अनागतमतीतं'** इस योगिप्रत्यक्ष–बोधक वचनसे प्रमाणित हुई वस्तु–सत्ताका इससे निषेध नहीं होसकता ।

पूर्वपक्षी—यदि वस्तु सर्वदा वर्तमान रहती है तो भूत–भावि–व्यवहार (होगया और होगा यह व्यवहार) कैसे होगा ? और यह व्यवहार केवल लोकमें ही नहीं है, किन्तु **'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'** (अर्थ–ये सब वर्तमान वस्तु ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है और भूत भावि वस्तु भी ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है) इत्यादि अनेक श्रुतियोंमें भी है । इसलिये इसकों अप्रमाण भी नहीं कहसकते, अतः सर्वदा वस्तु–सत्ता सिद्ध नहीं होसकती ।

भूत–भावि–व्यवहारसे सार्वदिक वस्तु–सत्ताका साधन ।

(११) **सिद्धान्ती**—वस्तु–सत्ताकों सार्वदिक माननेसे भूत–भावि–व्यवहार अप्रमाण सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत इससे भूत–भावि–व्यवहारकी ही तत्त्वस्पर्शिता और प्रामाणिकता सिद्ध होती है, क्योंकि 'भूत' 'भावी' शब्द धर्म–वाचक हैं और धर्मोंकी स्थिति धर्मियोंके विना रह नहीं सकती, इसलिये धर्मी वस्तु उत्पत्तिके पूर्व और नाशके अनन्तर न रहे तो ये शब्द जिन धर्मोंका बोध कराते हैं उनकी स्थिति असंभव होजाती है और इसका पर्यवसान धर्म और व्यवहारकी असत्यतामें होता है, अतः उक्त धर्मोंकी स्थितिके लिये धर्मी वस्तुकी सर्वदा सत्ता मानना आवश्यक है । और 'पुरुष एवेदं सर्वं' यह श्रुति भी सार्वदिक वस्तु–सत्ता ही कों सिद्ध करती है, क्योंकि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इस श्रुतिमें जैसे 'इदं सर्वं' इतने अंशसे ही वस्तु–मात्रका बोध होजाता है, ऐसे ही **'पुरुष एवेदं सर्वं'** यहाँ भी 'इदं सर्वं' से ही भूत भविष्यत् वर्तमान वस्तु–मात्रका बोध होसकता है, फिर भी जो **'यद्भूतं यच्च भाव्यम्'** इस अंशसे भूत भविष्यत् वस्तुओंका पृथक् बोध कराया है इसका यही तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष प्रतीत न होनेसे जिनमें साधारण–श्रेणीके मनुष्योंकी असद्–बुद्धि होती है वे भूत भावी वस्तुएँ भी ब्रह्म–स्वरूपा हैं असद् नहीं है । और इसीसे यह भी प्रमाणित होता है कि सब वस्तु-

ओंके नित्य होनेपर भी अवस्था–विशेष–बोधक भूत–भावि–व्यवहार बाधित नहीं होसकता, अतः सार्वदिक वस्तु–सत्ता माननेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

पूर्वपक्षी—'भूत' 'भावी' शब्द धर्म–वाचक हैं इसमें कोई प्रमाण नहीं । व्यवहारमें सभी लोग जिस वस्तुके साथ प्रागभावका (उत्पत्तिसे पूर्व वर्तमान अभाव) सम्बन्ध होता है उसे 'भावी' कहते हैं और जिस वस्तुके साथ ध्वंसाभावका सम्बन्ध होता है उसे 'भूत' कहते हैं । और '**पुरुष एवेदं सर्वम्**' यह श्रुति भी राग, द्वेष आदि दोषोंकी निवृत्ति हो और चित्त शुद्ध हो, इसके लिये भूत भविष्यत् वर्तमान वस्तुओंमें ब्रह्म–दृष्टि रखनेका उपदेश करती है, अतः सार्वदिक वस्तु–सत्ता, भूत–भावि–व्यवहार या श्रुति किसीसे भी प्रमाणित नहीं होसकती ।

सिद्धान्ती—प्रागभाव और ध्वंसका जो सम्बन्ध है यह भी धर्म है, अपने धर्मी प्रागभाव, ध्वंस और इनके प्रतियोगी घट पट आदि पदार्थ दोनोंमें रहता है, यदि धर्मी घट पट आदि पदार्थ उत्पत्तिके पूर्व और नाशके अनन्तर न रहेंगे तो इसका भी रहना असम्भव होजायगा, क्योंकि यह केवल एकमें नहीं रहसकता, इसलिये सार्वदिक वस्तु–सत्ता मानना तो फिर भी आवश्यक है ।

और जगत्में ब्रह्म–दृष्टि करनेका उपदेश तो तुह्मारे मतानुसार जैसे '**पुरुष एवेदँ सर्वं**' यह श्रुति करती है, ऐसे ही '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' यह भी करती है, फिर भी जो '**पुरुष एवेदं सर्वं**' इसीमें भूत–भव्योंका पृथक् वर्णन किया है इसका तात्पर्य, जो हमने प्रथम कहा है वही है, इसलिये यहाँ ब्रह्म–दृष्टिका उपदेश मानना असङ्गत है ।

भावित्व भूतत्व धर्मोंका आधार सूर्यकी गति तथा इससे उपलक्षित काल है ।

पूर्वपक्षी—भूत और भावी ये कालके भेद हैं और काल–भेद सूर्यकी गतिसे सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये भावित्व, भूतत्व सूर्यकी गतिमें रह सकते हैं, घट पट आदि पदार्थोंमें नहीं रह सकते । अत एव केवल इनकी स्थितिके लिये घट पट आदि पदार्थोंकी सर्वदा सत्ता स्वीकार करना अनावश्यक है ।

सिद्धान्ती—जिसमें भावित्व भूतत्व धर्म मानते हो वह सूर्यकी गति प्रागभाव और ध्वंसके समयमें भाविनी है भूता है या वर्तमाना है ? यदि भाविनी है, तो उसमें भूत–प्रतीति भी होनी चाहिये, क्योंकि भूतत्व भी उसमें रहता है । ऐसे ही यदि भूता है तो भावि–प्रतीति भी होनी चाहिये । भावित्व भावि–गतिमें रहता है और भूतत्व भूत–गतिमें रहता है यह तो कह नही सकते, क्योंकि–तुह्मारे मतके अनुसार प्रागभाव और ध्वंसके समयमें भूत–भावि–गतियां विद्यमान नहीं हैं, इसलिये उनमें

भावित्व–भूतत्व रहेंगे कैसे ? । यदि वह गति वर्तमाना है तो उसे भाविनी और भूता भी कहना चाहिये, क्योंकि पूर्वोक्तानुसार भावित्व भूतत्व भी उसमें रहते हैं । और इन गतियोंसे उपलक्षित कालमें भी ऐसा ही विपरीत–व्यवहार होना चाहिये, क्योंकि कालको भी भूत भावी या वर्तमान कहनेमें उक्त गति ही आधार है ।

पूर्वपक्षी—पट (वस्त्र) तन्तुओंसे बनता है, इसलिये तन्तु कारण हैं, और पट कार्य है, इन दोनों कार्य–कारणोंका जो सम्बन्ध है उसे समवाय कहते हैं । यह समवाय तन्तु और पट दोनोंमें रहता है और पट भी तन्तुओंमें रहता है । जैसे पट और समवाय ये दोनों तन्तुओंमें रहते हैं, ऐसे ही कालमें भी रहते हैं, क्योंकि काल सबका आधार है, परन्तु केवल तन्तुओंमें ही पटकी 'समवाय' सम्बन्धसे प्रतीति होती है और कालमें नहीं होती, इसी प्रकार भावित्व भूतत्व सूर्यकी गति या कालमें भले ही रहें, परन्तु उनमें भावि–भूत–प्रतीति नहीं होसकती । भावि–भूत–प्रतीति तो प्रागभावके और ध्वंसके जो प्रतियोगी हैं उन्हींमें होगी ।

सिद्धान्ती—पटके दृष्टान्तसे तुह्मारी स्वार्थ–सिद्धि नहीं होसकती, क्योंकि पट, समवाय सम्बन्धसे तन्तुओंमें रहता है और कालिक–सम्बन्धसे कालमें रहता है–इस प्रकार दोनो आधारोंमें भिन्न २ सम्बन्धसे रहता है–इसी कारण दोनोंमें समान प्रतीति नहीं होती, परन्तु तुह्मारे मतमें भावित्व–भूतत्वोंका स्वरूप प्रतियोगित्व है–जिसे कि स्वरूप–सम्बन्ध कहते हैं–और स्वरूप–सम्बन्ध स्वरूपात्मक होनेसे अपनी आधेय–रूपसे प्रतीति करानेके लिये अन्य किसी सम्बन्धकी अपेक्षा नहीं करता है–सर्वत्र स्व–स्वरूपसे ही रहता है–इसलिये भावित्व भूतत्वोंकी स्थिति घट पट आदि पदार्थों में और कालमें केवल एक स्वरूपात्मक सम्बन्धसे ही मान सकते हैं, दोनों आधारोंमें पृथक् २ सम्बन्ध–भेदकी कल्पना नहीं कर सकते । अत एव घट पट आदि पदार्थोंके समान कालमें भी भावी–भूत–प्रतीतिका होना तुह्मारे मतके अनुसार सर्वथा अनिवार्य है ।

पूर्वपक्षी—यद्यपि भावित्व–भूतत्व, घट–पट आदि पदार्थोंमें और कालमें स्वरूपात्मक सम्बन्धसे ही रहते हैं, परन्तु इनका घट–पटादिकोंमें घट–पट–स्वरूप सम्बन्ध है और कालमें काल–स्वरूप सम्बन्ध है, इसलिये कालमें भावि–भूत–प्रतीति नहीं होती, क्योंकि भावि–भूत–प्रतीति करानेवाला जो विशेष घट पटादिकोंके स्वरूपमें है वह कालमें नहीं है ।

सिद्धान्ती—तुह्मारे मतके अनुसार तो प्रागभाव और ध्वंसके समयमें भावि–भूत घटोंका स्वरूप ही विद्यमान नहीं है, अतः उस स्वरूपमें रहनेवाला विशेष भावि–भूत–प्रतीति करानेमें कैसे समर्थ होगा ? और ऐसे विशेषके माननेमें प्रमाण ही क्या ?

भाविभूतप्रतीति–कारक धर्म विशेषकी कल्पना।

पूर्वपक्षी—भावित्व–भूतत्वोंकी घट–पटादि पदार्थोंमें और कालमें स्थिति समान है, परन्तु भावि–भूत–व्यवहार जो घटादिकोंमें ही होता है और कालमें नहीं होता है यही व्यवहारका होना, न होना ऐसे योग्य विशेषकी कल्पना कराता है जो अन्य किसी सम्बन्धकी अपेक्षा न करता हुआ भावि–भूत प्रतीति करादे।

सिद्धान्ती—ऐसे विशेषकी कल्पना किसमें कराता है ? भावि–भूत–घटपटादि–पदार्थोंके स्वरूपमें, या उनके प्रागभाव ध्वंसोंमें, अथवा कालमें ? उक्त घट–पटादिकोंमें करवाता है यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि वे विद्यमान नहीं हैं। प्रागभाव और ध्वंस यद्यपि विद्यमान हैं, परन्तु इनमें रहनेवाला विशेष इन्हींमें भावि–भूत–प्रतीति करा सकता है, घटादिकोंमें नहीं करा सकता। यदि घटादि–पदार्थ उक्त अभावोंके सम्बन्धी हैं इसलिये इनमें भी करवाता है तो तुह्मारे मतके अनुसार काल भी वैसा ही सम्बन्धी है इसलिये उसमें भी करवाना चाहिये। और इसी आपत्तिके कारण कालमें भी विशेषकी कल्पना नहीं होसकती।

पूर्वपक्षी—जैसे घटत्वादि–जातियां घटादि–पदार्थोंमें रहती हैं, औ प्रलयके समय जब घटादि–पदार्थ नष्ट होजाते हैं तब कालमें भी रहती हैं, तथापि असाधारण–धर्म घटादि–पदार्थोंकी ही मानी जाती है और घटादि–पदार्थोंमें जैसी प्रतीति कराती है वैसी कालमें नहीं कराती, ऐसे ही यह विशेष भी घटादि–धर्म है भूत भावि दशामें घटादि पदार्थोंके विद्यमान न होनेसे कालमें रहता है, तथापि भूत–भावि–प्रतीति घटादि–पदार्थोंमें ही करवाता है, कालमें नहीं करवाता।

सिद्धान्ती—यह विशेष नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो वर्तमान घटादि–पदार्थोंमें भी भावि–भूत–प्रतीति होनी चाहिये, यदि अनित्य है तो तुम ऐसे किसी अन्य अनित्य धर्मको नहीं मानते जो अपने धर्मिके विना कालमें रहता हो, अतः दृष्टान्तके न होनेसे इसकी भी धर्मिके विना स्थिति कालमें नहीं मान सकते।

पूर्वपक्षी—दृष्टान्तको सब अंशोंमें समान होनेकी कोई आवश्यता नहीं है, वस्तु–सिद्धिमें जितने अंशका उपयोग हो उतना योग्य होना चाहिये। हमें यहाँ केवल यही सिद्ध करना है कि 'भावि–भूत–प्रतीति करानेवाला धर्म–विशेष, अपने धर्मी घटादि–पदार्थोंके विना भी कालमें रह सकता है' और इसकी सिद्धिके लिये 'घटत्वादि–जातियाँ अपने धर्मी घटादि–पदार्थोंके विना भी कालमें रहती हैं, बस इतना ही दृष्टान्तका अंश पर्याप्त है, अतः जातियोंकी नित्यता दृष्टान्त होनेमें बाधिका नहीं होसकती।

सिद्धान्ती—घटादि धर्मियोंके विना भी कालमें घटत्वादि–जातियोंकी सत्ताको उनकी नित्यता मनाती है, क्योंकि यदि न मानें तो उनकी नित्यता नहीं रह सकती,

परन्तु यह भावि–भूत–प्रतीति करानेवाला धर्म–विशेष तो अनित्य है, इसलिये धर्मीके विना कालमें इसकी सत्ता प्रमाणित नहीं होसकती ।

और यदि ऐसे धर्म–विशेषका भी आधार काल है तो असत् वस्तुका भी आधार काल क्यों न माना जाय । क्योंकि, जैसे यह विशेष भावात्मक अनित्य वस्तु है, तथापि किसीमें समवाय–सम्बन्धसे नहीं रहता है, ऐसे ही शशशृङ्गादि असत् वस्तु भी किसीमें 'समवाय' सम्बन्धसे नहीं रहती है, इसलिये वस्तुतः इसके और उसके स्वरूपमें कुछ भी अन्तर हीं न रहा । और इस विशेषकों माननेकी अपेक्षा तो भावि–भूत पदार्थोंकी सत्ता मान लेना ही अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि तुह्मारे लिये असत्की सत्ता मानना तो उभयत्र तुल्य है, परन्तु एक ऐसे विलक्षण पदार्थकी कल्पना न करना पड़ेगा यह लाघव है । यदि '**प्रजाश्च तुल्य–कालीयाः**' इस वचनके विरोध–भयसे असत्की सत्ता नहीं मान सकते हो तो इस विशेषकी भी सत्ता मत मानो, क्योंकि यह भी वैसा ही है ।

पूर्वपक्षी–यद्यपि उक्त धर्म–विशेष अनित्य होते हुए भी किसी में समवाय सम्बन्धसे नहीं रहता है, तथापि भूत–भावि–प्रतीति करानेमें उपयुक्त है, इसलिये इसे असत् नहीं कह सकते, क्योंकि शश–शृङ्गसदृश असत् पदार्थका कभी व्यवहारमें उपयोग नहीं होता । अत एव इस विशेषकों माननेमें '**प्रजाश्च तुल्यकालीया**' इस वचनका भी कोई विरोध नहीं है। और धर्मी घटादि–पदार्थोंके विद्यमान न होनेसे कालमें इसकी सत्ता मानें सिवा और कोई गति नहीं है, इसलिये अवश्य मानना ही चाहिये ।

सिद्धान्ती–तुह्मारा कल्पित धर्म–विशेष ही भावि–भूतप्रतीति कराता है, इसमें तो कुछ प्रमाण नहीं है, भावि–भूत–प्रतीति तो हमारे कथनानुसार पदार्थोंकी सर्वदा सत्ता माननेसे भी होसकती है । अतः तुह्मारे धर्मविशेष और असत् पदार्थमें कुछ भी भेद नहीं है, इससिये इसके द्वारा तुम अपने धर्म–विशेषकी सत्यता सिद्ध नहीं कर सकते ।

पूर्वपक्षी–सर्वदा वस्तु–सत्ता माननेसे भावित्व–भूतत्व धर्मोंकी निराधारताका अवश्य परिहार होगया, परन्तु भूत–भावि–व्यवहारकी प्रामणिकता सिद्ध नहीं हुई, क्योंकि सर्वदा वर्तमान रहनेवाली वस्तुकों भूत या भावी कहनेमें जो कारण है वह कुछ भी स्पष्ट नहीं हुआ है । अतः–भावि भूत प्रतीतिकी सिद्धिके लिये फिर भी हमारे अभिमत धर्म–विशेषका स्वीकार करना आवश्यक ही है ।

सिद्धान्ती–आविर्भाव–तिरोभावोंके सम्बन्धसें जो पदार्थोंके अवस्थाविशेषोंका हमको अनुभव होता है उसीकी प्रतीति करानेके लिये भूत भावि वर्तमान शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, जैसे–आविर्भावसे कुछ समय पूर्व पदार्थकों भावी कहते हैं और

आविर्भावके अनन्तर, तिरोभावसे पूर्व वर्तमान कहते हैं और तिरोभावके अनन्तर भूत कहते हैं, इस प्रकार प्रकटावस्थामें वर्तमान-व्यवहार और अप्रकटावस्थामें भूत-भावि-व्यवहार दोनों भी निर्विघ्न होसकते हैं, अतः इनके लिये असतुल्य धर्म-विशेषको स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

भाविभूतप्रतीति-कारक विशेषके स्वरूपका विचार।

और यदि ठीक विचार किया जाय तो सर्वदा वस्तु-सत्ता मानें विना यह धर्म-विशेष भी सिद्ध नहीं होसकता, क्योंकि इसका स्वरूप 'अन्य किसी सम्बन्धके विना ही भावि-भूत-प्रतीति करानेकी योग्यता' यही तुम मानते हो और यह अनेक-पदार्थ-स्वरूप अनित्य व्याप्य (परिच्छिन्न) धर्म है, भावि-घटमें 'भावि-प्रतीति-कारक-योग्यता' भूत-घटमें 'भूत प्रतीति-कारक-योग्यता' इस प्रकार भिन्न २ रूपसे अनन्त पदार्थोंमें रहता है, अतः जैसे असंख्य घट व्यक्तियोंकी परिचायिका (पहिचान करानेवाली) एक घटत्व जाति है, जिसका एक घट व्यक्तिमें परिचय होनेसे मनुष्य असंख्य घटोंको पहचान लेता है, ऐसे ही इस असंख्य पदार्थोंमें रहनेवाली 'भावि-भूत-प्रतीति-कारक योग्यता' का भी कोई परिचायक अपेक्षित है, क्योंकि परिचायकके विना किस २ वस्तुमें भावि-भूत-प्रतीति-योग्यता है और किसमें नहीं है यह अनुगम ही नहीं होसकता, परन्तु इसका परिचायक तुम अपने मतानुसार किसीको नहीं बता सकते, क्योंकि भावित्व-भूतत्वोंके स्वरूप और आधारका निर्णय नहीं हुआ है, इसलिये ये परिचायक हो नहीं सकते। और यह विशेष अनेकपदार्थ-समूह-स्वरूप है इसलिये इसमें अन्य किसी व्यापक धर्मकी कल्पनाका संभव नहीं है। यदि अन्य कोई गति न होनेसे वस्तु-सत्ताको ही परिचायिका मानते हो तो वस्तु-सत्ताको सार्वदिक मानना आवश्यक होगया, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्व, नाशके अनन्तर विद्यमान रहें विना वस्तु-सत्ता उस समयमें रहनेवाली भावि-भूत प्रतीति कारक योग्यताकी परिचायिका नहीं होसकती। अतः सार्वदिक वस्तु-सत्ता मानना सर्वथा आनिवार्य है।

और सार्वदिक वस्तु-सत्ताके सिद्ध होनेपर भी तुह्मारा धर्म-विशेष तो अपनी स्वरूप-महिमासे स्वयं ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इसके स्वरूपमें 'अन्य किसी सम्बन्धके विना' इतना अंश बिलकुल गोलमाल है, इसका एक अर्थ तो यह होसकता है कि 'स्वरूप सम्बन्धसे अतिरिक्त सम्बन्धके विना।' यदि यह है तो बडी आपत्ति है, क्योंकि 'स्वरूप' सम्बन्ध स्वरूपात्मक है और यहां स्वरूप तुम भावि-भूत-पदार्थोंका ही ले सकते हो, इसलिये सबका सार यह निकला कि उक्त धर्म-विशेष भावि-भूत पदार्थोंके स्वरूप ही कों सम्बन्ध बनाकर उनमें भावि-भूत-प्रतीति कराता है, और

यह किसी प्रकार संभव नहीं है, क्योंकि जो भावि-भूत पदार्थोंका स्वरूप स्वयं ही विद्यमान नहीं है वह सम्बन्ध बनकर भावित्व-भूतत्व-प्रतीति कैसे करा सकेगा ।

और भूत-भावि-पदार्थोंका स्वरूप, सम्बन्ध है इसमें भी क्या प्रमाण ? क्योंकि संयोग-समवायोंके समान वस्तु-स्वरूप सर्वत्र तो सम्बन्ध-रूपसे रहता ही नहीं, जहाँ सम्बन्धका कार्य करता है वहाँ उसे सम्बन्ध मानते हैं और यहाँ भावित्व-भूतत्व-प्रतीति करानेके सिवा और कोई सम्बन्धका कार्य नहीं है, अतः उक्त-वस्तु-स्वरूप जब भावि-भूतत्व-प्रतीति करावेगा तब सम्बन्ध सिद्ध होगा, इस समय तो भावि-भूतत्व-प्रतीति-कारक विशेष ही असिद्ध है, फिर भावि-भूतत्व-प्रतीतिके अनन्तर सिद्ध होनेवाले सम्बन्धकी बात ही क्या ?, अतः ऐसे असिद्ध सम्बन्धको भावि-भूतत्व-प्रतीति-कारक उक्त विशेषके स्वरूपमें कहना प्रमादमात्र है ।

'अन्य किसी सम्बन्धके विना' इसका दूसरा अर्थ यह होसकता है कि लौकिक—नयन नासिका आदि इन्द्रिय, सामान्य-लक्षणा और ज्ञान लक्षणा, अलौकिक-योग-बल आदि. जितने ज्ञानके साधन हैं उन सभी के सम्बन्धके विना । यदि यह तुमको अभिप्रेत है तो यह और पूर्वोक्तसे भी अधिक निकृष्ट है, क्योंकि जिसके साथ किसी भी ज्ञान-साधनका सम्बन्ध ही न हो ऐसी कोई ईश्वरकी सृष्टिमें वस्तु ही नहीं है, इसलिये यह किसीको विश्वसनीय नहीं होसकता कि धर्म-विशेष किसी भी ज्ञान-साधनकी सहायता न लेता हुआ भावि-भूतत्व-प्रतीति करा देता है ।

यदि सब ज्ञान-साधनोंके सम्बन्धका निषेध नहीं है, कुछका है तो 'अन्य किसी सम्बन्धके विना भावि-भूतत्व-प्रतीति-कारक-योग्यता' यह स्वरूपवर्णन, जिनका निषेध नहीं है, उनका भी परिचायक होजायगा, केवल तुम्हारे कल्पित विशेषका ही न होगा । इन उक्त दो अर्थोंके सिवा और कोई तीसरा अर्थ पूर्वोक्त धर्म-विशेषके स्वरूपवर्णनका हो नहीं सकता, इसलिये ऐसे धर्म-विशेषको स्वीकार करना सर्वथा अयोग्य है ।

भावित्व-भूतत्वोंका सन्निकर्ष ।

पूर्वपक्षी—तुम्हारे मतके अनुसार भी तो भावित्व-भूतत्वोंके साथ किसी ज्ञान-साधनका सम्बन्ध संभव नहीं है, क्योंकि इनके आधार ही अप्रकट हैं । अतः इनकी प्रतीति करानेवाला तुमको भी कोई मानना आवश्यक होगा और जिसको मानोगे उसका स्वरूप हमारे उपर्युक्त स्वरूपसे भिन्न नहीं होसकता । अतएव जो दोष तुमने हमको दिखाये हैं वे तुम्हारे लिये भी तय्यार हैं ।

सिद्धान्ती—वाह ! वाह ! आपने यह कैसे समझा कि हमारे मतके अनुसार कोई सम्बन्ध ही संभव नहीं है ?, भावि-भूत वस्तुओंका योगियोंको प्रत्यक्ष होता है यह तो

हम प्रथम **'अनागतमतीतं च'** इस श्लोकके द्वारा प्रमाणित कर चुके हैं. और इसीसे भावि–भूत वस्तुओंमें रहनेवाले भावित्वभूतत्वोंका योगियोंकों प्रत्यक्ष होता है यह भी सिद्ध होजाता है । इसके अतिरिक्त प्राकृत लोगोंको भी 'इन्द्रिय–संयुक्त–समवेत–समवाय' सम्बन्धसे भावित्व–भूतत्वोंका प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि शास्त्रीय–प्रमाणोंसे और इनके पृष्ठ–गत अनुमान–तर्कोंसे वस्तु आविर्भावसे पूर्व और तिरोभावके अनन्तर कारण–रूपमें रहती है यह सिद्ध हो गया है, और इन्द्रिय–संयोगसे उपादान कारणका प्रत्यक्ष होता ही है । अतः इन्द्रिय–संयुक्त उपादान कारणमें 'समवाय' सम्बन्धसे रहनेवाले भाविभूत कार्योंका 'इन्द्रिय–संयुक्त–समवाय'–सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होनेमें कोई आपत्ति नहीं है; जैसा मधुर–रसके सम्बन्धसे अन्धकारमें गुडका प्रत्यक्ष होता है, ऐसा यह भावित्व–भूतत्व–धर्मोंके सम्बन्धसे भावि–भूत कार्योंका सामान्यरूपसे प्रत्यक्ष है । और इन कार्योंके प्रत्यक्ष होनेसे इनमें 'समवाय' सम्बन्धसे रहनेवाले भावित्व–भूतत्वोंका भी 'इन्द्रिय–संयुक्त–समवेत–समवाय' सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होना ठीक ही है । अतः हमें स्वरूपको सम्बन्ध माननेकी और वैसे असत्तुल्य विशेष माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

एक ही इच्छाके भिन्न २ परस्पर–विरुद्ध अनेक आकार होसकते हैं या नहीं।

(१२) **पूर्वपक्षी**—'आविर्भावके पूर्व और तिरोभावके अनन्तर वस्तु कारण–रूपमें रहती है' यह तो तब कह सकते हो जब कि आविर्भाव–तिरोभावोंके स्वरूपका निर्णय हो गया हो, परन्तु अभी तो यही निर्णय नहीं हुआ है, क्योंकि तुमने प्रथम "अमुक वस्तु अमुक समयमें, अमुक देशमें प्रकट हो और अमुक वस्तु तिरोहित हो" ऐसे, परमात्माकी इच्छाके प्रतिवस्तु भिन्न २ विशेष आकार बताये हैं और एक ही इच्छाके ऐसे परस्पर–विरुद्ध अनेक आकार हो नहीं सकते ।

यदि उक्त इच्छाको प्रतिवस्तु भिन्न मानते हो तो वस्तुओंके अनन्त होनेसे इच्छाओंको भी अनन्त मानना आवश्यक होगा, इसलिये ऐसे व्यर्थ विस्तारकी अपेक्षा तो पूर्वोक्त भूतत्व–भावित्व–प्रतीति–कारक एक विशेष मान लेना ही श्रेष्ठ है ।

और परस्पर–विरुद्धाकार ऐसी अनन्त इच्छा परमात्मामें सर्वदा नहीं रह सकती, इसलिये इच्छाओंको अनित्य भी मानना पडेगा, जिससे तुम्हारा सभी नित्य है यह सिद्धान्त ही नष्ट होजायगा । अतः आविर्भाव–तिरोभावोंका जो तुमने प्रथम स्वरूप दिखाया है यह सर्वथा असङ्गत है ।

और सार्वदिक–वस्तु–सत्ताके विषयमें भी प्रथम तुमने शास्त्रीय प्रमाण, अनुमान, या तर्क, कुछ नहीं कहा है, इसलिये "शास्त्रीय–प्रमाण और इनके पृष्ठ–गत अनुमान तर्क" यह कथन भी व्यर्थ है ।

सिद्धान्ती—सृष्टिके समय ब्रह्मने, मैं तेजःस्वरूप होजाउं, जल होजाऊं, पृथ्वी होजाऊं ऐसी पृथक् २ इच्छा प्रकट न कर सर्ववस्तु–सम्बन्धिनी एक आविर्भावेच्छा प्रकट की है, इसका परिचय '**सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय**' (अर्थ–परमात्माने इच्छा की कि मैं भिन्न २ प्रकारोंसे अनेक–रूप होजाउं) इस श्रुतिके द्वारा मिलता है। ऐसे ही '**हन्त तिरोऽसानि**' इस श्रुतिके द्वारा तिरोभावेच्छा भी एक ही है यह सिद्ध होता है, अतः इनको वस्तु–भेदसे अनन्त नहीं मान सकते।

और परमात्मा भिन्न २ प्रकारकी जिन २ वस्तुओंके द्वारा बहु–रूप होनेकी इच्छा करता है उनके विशेष स्वरूपोंको जाने विना तो ऐसी इच्छा कर ही नहीं सकता है। लोकमें देखते हैं कि आगे जिस कार्यके करनेकी इच्छा हो उसका विशेष–स्वरूप कर्ताके प्रथम ध्यानमें रहता है। और लौकिक कर्ताके लिये तो कदाचित् यह भी संभव है कि प्रथम सामान्य–ज्ञानसे कार्य करनेमें प्रवृत्त होजाय और अनन्तर विशेष–ज्ञान संपादन करता रहै, परन्तु परमात्माके लिये यह संभव नहीं है, क्योंकि परमात्माका ज्ञान नित्य है, इस प्रकारका ज्ञान परमात्माको प्रथम नहीं था और अब है यह कह नहीं सकते। इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्माके नित्य–ज्ञानमें विशेष २ रूपसे विद्यमान रहनेवाली जो वस्तुएं हैं उनके ही साथ उक्त इच्छाका भी सम्बन्ध है, इसलिये इसके भिन्न २ प्रकारके अनेक आकार मानना अवश्य–प्राप्त है। जैसे परमात्माका उक्त ज्ञान अनेक भिन्न २ प्रकारके आकारोंसे सम्बन्ध रखता है, तथाऽपि उसको तुम एक मानते हो, ऐसे ही यह इच्छा भी अनेक आकारोंसे सम्बन्ध रखती है, तथापि इसको एक मानना आवश्यक है, क्योंकि वैदिक पदार्थोंके स्वरूपका परिचय वेदसे ही होता है, इसलिये जैसा वेद कहे वैसा आस्तिक–मात्रको स्वीकार करना आवश्यक है।

अत एव वस्तु–सत्ताको सार्वदिक प्रमाणित करनेके लिये '**पुरुष एवेदं सर्वम्**' '**अनागतमतीतं च**' इत्यादि प्रमाण जो प्रथम दिखा दिये थे वे ही पर्याप्त थे, अनुमान–तर्कोंकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी, तथापि शङ्का–शीलोंके सन्तोषके लिये भूत–भावि–व्यवहार–मूलक अनुमान भी सूचित कर दिया है। सूचित अनुमानका आकार इस प्रकार है–"भावि–पदार्थ और भूत–पदार्थ भावि–भूत–शब्दोंसे व्यवहार करनेके समय भी विद्यमान हैं, क्योंकि उनमें रहनेवाले भावित्व–भूतत्व–धर्मोंका अनुभव होरहा है।"

वस्तु सर्वदा रहती है।

इसके अतिरिक्त, वस्तु–सत्ताको सार्वदिक प्रमाणित करनेके लिये सांख्य–शास्त्रने भी कई अनुमान–तर्कोंका उपन्यास किया है जिनमेंसे कुछ प्रकृतोपयोगी यहां दिखाये जाते हैं—

(११) (१) उत्पत्तिसे पूर्व भी वस्तुको सत् (विद्यमान) मानना चाहिये, क्योंकि जैसे गधा घोड़ा नहीं बन सकता, ऐसे ही असत् सत् (विद्यमान) नहीं होसकता।

(२) उत्पत्तिसे पूर्व वस्तुकी सत्ता उपादान कारणमें मानना चाहिये, जैसे घटकी सत्ता मृत्तिकामें, क्योंकि जो वस्तु जहां नहीं रहती है वह वहांसे उत्पन्न नहीं होती, जैसे वालुकामेंसे तैल।

(३) वस्तु जहां नहीं रहती है वहांसे भी यदि निमित्त कारण (जैसे कुम्भकार दण्ड आदि) उसको अपने सामर्थ्यसे उत्पन्न कर सकते हैं तो सभी वस्तुएं सर्वत्र उत्पन्न होनी चाहिये।

(४) वस्तुतः उपादान कारणसे कार्य भिन्न नहीं होते, इसलिये कारण सत् है तो कार्यको भी सत् ही मानना चाहिये।

इसी सार्वदिक वस्तु–सत्ताका कारण–कथन–पूर्वक और भी अधिक स्पष्टीकरण, महाभारत आश्रमवासिक पर्वके ३२ वें अध्यायकी एक कथासे होता है जिसका सारांश इस प्रकार है—

(१२) भूभार–हारी हरिकी इच्छासे महाभारतके समरमें अपने दल–बल सहित अखिल कौरव–कुल जब कालकी गालमें लीन होगया, तब शेष रहे धृतराष्ट्र, गान्धारी कुन्ती आदि शोकसे अत्यन्त ही विकल हुए और शोक–शान्तिकी इच्छासे भगवान् वेद–व्यासके आश्रममें गये। वहां वेद–व्यासजीने प्रथम तो उनको अनेक प्रकारके उपदेश दिये, परन्तु अनन्तर धृतराष्ट्रके और कुन्तीके प्रार्थनानुसार शोक–शान्तिके लिये महाभारतमें मरे हुए पुरुषोंके पुनः प्रदर्शनको उपयुक्त समझा, और धृत–राष्ट्र आदि सब लोगोंसे कहा कि गङ्गास्नान कर रातको आश्रममें आना। तब सब लोग उस समय बिदा हुए और रातको स्नान कर व्यासजी के आश्रममें पहुंचे। वहां जाते ही प्रथम तो भगवान् व्यासने अन्धे महाराजके लिये दिव्य चक्षु प्रदान किये, फिर गङ्गास्नान कर सब मृत आत्माओंका आह्वान किया। आह्वान करते ही दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, विकर्ण, शकुनि आदि कुल कौरव–कुल सदलबल जलसे उसी समय प्रकट होगया। धृतराष्ट्र, कुन्ती, पाण्डव आदि सब लोग अपने सम्बन्धियोंको देख कर बडे प्रसन्न हुए। प्रकट हुए लोगोनें भी वह रात्रि विहारमें वहीं व्यतीत की, अनन्तर विमानोंमें बैठ २ कर यथा–स्थान प्रस्थान किया।

इस कथाको वैशम्पायनके मुखसे जब जनमेजयने सुनी तो उसकी भी तुह्मारे समान सार्वदिक वस्तु–सत्तामें श्रद्धा नहीं हुई. और उसने वैशम्पायनसे पूछा कि गुरु–महाराज! यह मृत पुरुषोंका पुनः अपने स्वरूपमें आना तो असंभव मालूम होता है।

तब इसके आगे वैशम्पायनने कहा कि जीवोंके शरीर और आकृतियां जिन कर्मोंकी प्रेरणासे जिन पञ्च महाभूतोंके द्वारा बनती हैं वे कर्म और पञ्च महाभूत–पृथिवी, जल आदि–सब नित्य हैं, अत एव इनसे बने हुए शरीर और शरीरोंकी आकृतियां भी नित्य हैं। जीवात्माओंको तो प्रायः सभी शास्त्र नित्य कहते हैं, इसलिये इनके विषयमें तो कोई संशय ही नहीं होसकता और ये जीवात्मा शरीर आकृतियां आदि सब नित्य हैं, इसीलिये सर्वदा विद्यमान रहते हैं। अतः मृत पुरुषोंके पुनर्दर्शन होनेमें केवल इनके परस्पर सम्बन्ध होनेकी अपेक्षा है, वह सम्बन्ध परमात्माकी इच्छासे जब होजाता है तभी मृतपुरुष, जिनको परमात्मा दिखाना चाहता है उनको दीख जाते हैं। यहां भी नारायणावतार भगवान् वेद–व्यासने धृतराष्ट्रादिकोंके लिये मृत कौरवोंको दिखाना चाहा, इसलिये उनके तपःप्रभावसे प्रकट हुए वे कौरव अपने पूर्व शरीरोंमें प्रविष्ट होकर दीख गये।'

शरीरको आत्मा मानना ही शरीर–लाभका कारण है।

इतना कहकर अनन्तर शरीर–प्रवेशके स्वरूपका परिचय देते हुए बताया कि "शरीरको आत्मा मानना ही सब लोगोंके शरीर–प्रवेशका कारण है, केवल अन्तर इतना ही है कि संसारी जीव मोह–वश शरीरमें आत्माऽभिमानका आरोप करते हैं, इसलिये उनका शरीरकों आत्मा मानना मिथ्या है, परन्तु मुक्त पुरुष '**प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन्नेव वाग्भवति**' (अर्थ–मुक्त पुरुष श्वास लेता हुआ भी श्वासरूप है, बोलता हुआ भी वाणीरूप है) इस श्रुतिके अनुसार सर्व–स्वरूप होजाते हैं, इसलिये इनका शरीरको आत्मा मानना वास्तविक है।" तात्पर्य यह है कि ज्ञानी या अज्ञानी किसीका भी शरीर–प्रवेश असंभव नहीं है।

इतने कथा–भागसे यह सोपपत्तिक स्पष्ट सिद्ध होता है कि वस्तु सर्वदा विद्यमान रहती है, केवल तिरोभाव होजानेसे मनुष्योंकी उसमें असद्बुद्धि होती है।

ऐसे ही भगवान् श्रीकृष्णका प्रभासमें मरे हुए अपने गुरु–पुत्रका लाना, अर्जुनके साथ जाकर भूमा भगवान्के यहांसे द्वारकावासी ब्राह्मणके पुत्रोंका लाना और देवकीजीके अनुरोधसे दानवेन्द्र बलिके पाससे अपने भ्राताओंका लाना भी इस सार्वदिक वस्तुसत्ताका ही समर्थन करता है। अतः वस्तु सर्वदा रहती है, यह मानना सर्वथा आवश्यक है।

पदार्थ प्रवाह–रूपसे नित्य हैं या स्वरूपसे।

पूर्वपक्षी—'**वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्**' (अर्थ–विकार–स्वरूप जगत् नाम–मात्र है–असत्य है–केवल इसका कारण सत्य है) '**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि**'

(ब्रह्म–दर्शन होते ही सब कर्म नष्ट होजाते हैं) इत्यादि अनेक वचनोंसे पञ्च–महाभूत–रचित यह जगत् और जगदन्तर्गत कर्म असत्य प्रमाणित होते हैं इसलिये, महाभारतमें जो मरे थे उनके शव–शरीर जला देनेसे भी नष्ट नहीं हुए, कहीं छिपे पडे थे और वेदव्यासने उनको दिखा दिये यह किसीको विश्वसनीय नही होसकता ।

और वैशम्पायन भी अनेक–प्रमाण–विरुद्ध ऐसा नहीं कह सकता कि पञ्च महाभूत, कर्म और इनसे बनी हुई शरीराकृतियां नित्य हैं । जो उसने '**महाभूतानि नित्यानि**' इत्यादि कुछ वचनोंसे नित्यताका प्रतिपादन किया है उसका तात्पर्य इनको केवल प्रवाह–रूपसे नित्य कहना है, और यह इसी प्रकरणके '**अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणाम्**' (अर्थ–सब कर्मोंका नाश नहीं होता) इस वचनसे स्पष्ट होजाता है, क्योंकि कर्मोंको नित्य प्रमाणित करनेके लिये तो '**अविप्रणाशः कर्मणाम्**' (अर्थ–कर्मोंका नाश नहीं होता) इतना ही कथन पर्याप्त था, परन्तु फिर भी 'सर्वेषां' पदका उपन्यास किया है यह इसी तात्पर्यको सूचित करनेके लिये है कि कर्म–प्रवाह नित्य होनेसे सब कर्मोंका कभी नाश नहीं होता । और इसी वचनके समीप '**महाभूतानि नित्यानि**' इत्यादि अन्य वचन हैं, इसलिये उनका भी तात्पर्य पञ्च–महाभूत आदि जड–सृष्टिको प्रवाह–रूपसे नित्य कहना ही है ।

और इस नित्यता–वर्णन–पर संपूर्ण प्रकरणसे वैशम्पायनने यह समझाया है कि मृत पुरुषोंके कर्मशेषका और द्रष्टाओंके अदृष्टका आश्रय लेकर भगवान् वेद–व्यासने अपने तपः–प्रभावसे पूर्वशरीर–सदृश मायिक शरीर उत्पन्न किये और उनमें दुर्योधन आदि कौरवोंकी आत्माओंका सम्बन्ध करा दिया । अतः तुम्हारे अभिप्रायानुसार स्वरूपतः वस्तुको नित्य प्रमाणित करनेमें इसका उपयोग नहीं होसकता । ऐसे ही भगवान् श्रीकृष्णने जो मृतात्माओंके स्वरूप दिखाये थे वे भी श्रीकृष्णकी मायासे ही उत्पन्न थे । इसलिये ये कथाएं भी वस्तुको नित्य प्रमाणित करनेमें सर्वथा अनुपयुक्त हैं ।

और परस्पर विरुद्ध भावित्व–भूतत्व–वर्तमानत्व–धर्मोंकी एक ही वस्तुमें सर्वदा स्थिति नहीं होसकती, इसलिये इनको तथा इनके धर्मियोंको भी अनित्य मानना अवश्य–प्राप्त है । अत एव पूर्वोक्त भावि–भूत–व्यवहार मूलक अनुमान तर्कोंका भी उपयोग नहीं होसकता ।

सिद्धान्ती—व्यासजीने मायिक शरीर दिखाए होते तो धृतराष्ट्रादिकोंको स्नान करानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इन्द्रजालखेलकों दिखानेवाला कभी यह नहीं कहता कि द्रष्टा लोग स्नान कर आवें, तब मेरा खेल दीखेगा ।

और यदि ये मायिक होते तो इनके साथ इनकी प्रतिव्रता पत्नियोंका विहार करना

संभव नहीं था, क्योंकि मायिक पतिके साथ विहार करनेसे भी पातिव्रत्य नष्ट होजाता है। यह प्रसिद्ध ही है कि जालन्धर–रूप–धारी भगवान् श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध करनेसे जालन्धरकी पत्नीका पातिव्रत्य नष्ट होगया था।

और भगवान् वेद–व्यास भी पातिव्रत्य–भञ्जक ऐसे निकृष्ट कार्यके लिये अनुमति नहीं देसकते ?। इसके अतिरिक्त जनमेजयने जब पूछा कि (**कथं च त्यक्त–देहानां पुनस्तद्रूपदर्शनम्**) नष्ट हुए शरीरोंका पुनर्दर्शन कैसे हुआ तो उस समय वैशम्पायनको यह स्पष्ट उत्तर देना चाहिये था कि ये व्यासजी के दिखाये हुए पूर्व शरीरोंके सदृश मायिक शरीर हैं, वस्तुतः पूर्वके शरीर नहीं हैं, ऐसा न कह कर कर्म, पञ्चमहाभूत, शरीर, आकृतियां नित्य हैं यह क्यों कहा ?, और इससे तुम्हारे मतानुसार जनमेजय उत्तरका क्या अर्थ समझा ?। यदि '**अविप्रणाशः सर्वेषाम्**' इसके द्वारा सब कर्मोंका नाश नहीं है इस कथनका यह तात्पर्य है कि मृत पुरुषोंके प्रारब्ध कर्म कुछ शेष हैं तो महाभूतोंको और शरीराकृतियोंको नित्य कहनेका क्या तात्पर्य है ?, क्या मृत पुरुषोंके शरीराकृतियोंका भी तुम्हारे मतके अनुसार कोई ऐसा अंश शेष है जिसके लिये बैशम्पायनने इनको नित्य कहा है ?। यदि नहीं है तो प्रकृतमें उपयोग न होनेसे केवल प्रवाह–रूपसे नित्य कहना व्यर्थ है। अतः उक्त प्रमाणोंका तात्पर्य–कौरवोंके शरीर आकृतियोंको वस्तुतः नित्य कहना है–यही मान सकते हैं, इसलिये इस प्रकरणमें मायिक वस्तुओंके प्रदर्शनका वर्णन बताना सर्वथा असङ्गत है।

ऐसे ही शेष कथाओमें भी मायिक–प्रदर्शनका वर्णन नहीं है, क्योंकि यदि होता तो श्रीकृष्णको बालकोंके लानेके लिये भूमा भगवान् और दानवेन्द्र बलिके पास जानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी, अर्जुन और देवकीजीके परोक्षमें कहीं भी मायासे बालकोंको उत्पन्न कर दिखा सकते थे। अतः इनसे भी सार्वदिक वस्तु–सत्ता निर्विघ्न सिद्ध होती है।

वाचारम्भण श्रुतिसे जगत् सत्य सिद्ध होता है।

(१४) और '**वाचारम्भणं विकारः**' इस श्रुतिसे जगत्को असत्य प्रमाणित करनेकी चेष्टा करना भी व्यर्थ है, क्योंकि जगत् असत्य है यह इसका अर्थ नहीं है। यदि होता तो भगवान् वेदव्यास इसका अर्थ–बोधक सूत्र—

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'

अर्थ–(तद्–अनन्यत्वम्) ब्रह्मका अभेद है (अर्थात् जगत्के साथ) क्योंकि (आरम्भणशब्दादिभ्यः) 'वाचारम्भणं विकारः' इस श्रुति में भेद करनेवाले विकारको नाममात्र कहा है।

ऐसा न बना कर 'तदसत्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' ऐसा बनाते, क्योंकि 'अनन्य,

शब्दका शास्त्रोंमें “अन्य नहीं” यही अर्थ सर्वत्र होता है, असत्य अर्थ कहीं भी नहीं होता। और यह कथन भी सर्वथा अनुपयुक्त है कि ब्रह्म–भिन्न जगत्को निषेधसे असत्य प्रमाणित करनेके लिये ‘अन्य नहीं’ ऐसा कहा है, क्योंकि वेदार्थ को स्पष्ट करनेके लिये सूत्रोंकी रचना कीगई है, इसलिये इनमें ऐसा अस्पष्टार्थ शब्दप्रयोग नहीं होसकता। अत एव अनन्य शब्दका तात्पर्यार्थ जगत्को मिथ्या कहना नहीं है, किन्तु जगत्को ब्रह्मसे अभिन्न कहना है, और यही अर्थ **‘वाचारम्भणं विकारः’** इस श्रुतिका भी है। श्रुति छान्दोग्य उपनिषद्के श्वेतकेतूपाख्यानमें संपूर्ण इस प्रकार है—

यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्।
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥

अर्थ–(सौम्य) हे शान्त–स्वभाव श्वेतकेतु (यथा) जैसे (एकेन मृत्पिण्डेन) एक मिट्टीके ढेलेसे (सर्वं मृण्मयं) सब मिट्टीकी वस्तुएँ (विज्ञातं स्यात्) मालूम होजाती हैं (विकारः) मृत्तिकाकी वस्तुओंको मृत्तिकासे भिन्न प्रमाणित करनेवाला विकार (वाचारम्भणं) कथनमात्र है–अर्थात् कुछ वस्तु नहीं है–,(नामधेयं) अवस्था–विशेषकी प्रतीति करानेवाले घट, शराव आदि नाम (अर्थात् कारणके हैं) (मृत्तिकेति) घट, शराव, आदि मृण्मय वस्तुएँ मृत्तिकारूप होनेसे (सत्यमेव) सत्य ही हैं।

इस श्रुतिसे पूर्व, उक्त उपनिषद्में **‘येनाश्रुतं श्रुतं भवति’** यह प्रतिज्ञा–वाक्य है, इस वाक्यमें एक ब्रह्मका ज्ञान कर लेनेसे सबका ज्ञान होता है यह कहा है, इसके लिये **‘यथा सौम्यैकेन’** इससे दृष्टान्त बताया कि जैसे एक मिट्टीका ढेला मालूम करनेसे सब मिट्टीकी वस्तुएँ मालूम होजाती हैं। इसमें भी जब कारणकी अपेक्षा हुई तो **‘वाचारम्भणं’**से लेकर **‘सत्यम्’** पर्यन्तके भागसे यह बताया कि मिट्टीका ढेला और मिट्टीकी बनी हुई घडा, शकोरा, पुरवा, कुल्हड आदि वस्तुएँ परस्पर भिन्न नहीं है, किन्तु मृत्तिकारूपसे सब एक ही हैं। लोकमें जो यह व्यावहारिक भेद है कि ‘मिट्टी लाओ’ ऐसा कहनेसे कोई मनुष्य घडेको नहीं लाता और ‘घडा लाओ’ ऐसा कहनेसे मिट्टीको नहीं लाता यह केवल कथनमात्र है। सबका तात्पर्य यह कि जैसे मृत्तिका और मृत्तिकासे बनी हुई वस्तुओंमें कुछ भेद नहीं है। ऐसे ही ब्रह्म और ब्रह्मसे उत्पन्न हुए जगत्में कुछ भेद नहीं है।

विरोधकी या भेदकी प्रतीतिका होना ईश्वरेच्छाऽधीन है।

(१२) ऐसे इस स्वरूपात्मक जगत्में ब्रह्मने व्यवहारके लिये धर्मोंके आविर्भाव–तिरोभावोंसे वस्तुओंके अनन्त भेद कर दिये हैं। अत एव भावित्व–भूतत्व–वर्तमानत्व यद्यपि सभी वस्तुओंमें सर्वदा रहते है, परन्तु ब्रह्मकी भेद–कारिका इच्छाके नियमनसे सर्वदा सर्वत्र प्रतीत नहीं होते। जहाँ जिस समय जिस धर्मकी प्रतीति ब्रह्म कराना

चाहता है वहाँ उस समय उसी धर्मकी प्रतीति होती है, परन्तु जहाँ एक ही वस्तुमें एक ही समयमें परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी प्रतीति करानेकी ब्रह्मकी इच्छा होती है वहाँ वे प्रतीत होते भी हैं, अत एव महाभारतके प्रारम्भमें (**केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः**) जब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको विश्वरूप दिखाया था तब अपने मुखमें वर्तमान कौरवोंके भी भावी नाशकी प्रतीति करादी थी । अतः भावित्व–भूतत्व–वर्तमानत्वोंका एक ही वस्तुमें रहना विरुद्ध नहीं है ।

(१३) शब्द–प्रामाण्यके प्रसङ्गमें तत्वदीपनिबन्धमें आचार्यचरणोंने जो आज्ञा की है कि 'शब्द और अर्थ दोनों भी ब्रह्मस्वरूप हैं और ब्रह्ममें सब धर्म और सब शक्तियाँ सर्वत्र विद्यमान हैं इसलिये सब शब्द सब अर्थोंका बोध करा सकते हैं और वस्तुओंमें भी सर्वत्र सब धर्म विद्यमान हैं, अतः कोई यदि यह कहे कि अग्नि शीतल है तो यह भी वाक्य अप्रमाण नहीं होसकता, परन्तु शब्दोंकी शक्तियोंके संकोचसे और धर्मोंके तिरोभावसे जगदीश्वरने जो प्रपञ्चमें विचित्रता की है, इसके अनुसार, जबतक पूर्णज्ञान न हो, तबतक वेद, व्याससूत्र, गीता, भागवत आदि पूर्वोक्त प्रमाणोंसे ही संपूर्ण निर्णय करना चाहिये, अखण्ड ब्रह्म–ज्ञान होनेके अनन्तर तो कहीं कुछ विरोध या भेद प्रतीत होता ही नहीं. इसलिये उस समय सभी प्रमाण हैं ।' यह भी इसी विषयको प्रमाणित करता है कि वस्तुओंका वस्तुतः परस्पर स्वाभाविक कोई विरोध नहीं हैं, केवल जगदीश्वरकी इच्छासे हुआ है इसलिये ऐच्छिक है । जहाँ उसकी इच्छा अनुकूल होती है वहाँ प्रतीत होता है, सर्वत्र नहीं होता । अतः भावित्व, भूतत्व, आविर्भाव, तिरोभाव, उपलम्भ, अनुपलम्भ आदि धर्मोंकी एकत्र स्थितिमें कोई बाधा नहीं है । अत एव भावि–भूत–व्यवहार–मूलक अनुमान–तर्कोंका भी पूर्वोक्त उपयोग होसकता है । इस प्रकार सार्वदिक वस्तु–सत्ता सिद्ध होजानेसे **'तत्सत्यम्'** इस श्रुतिकी कही हुई जगत्की सत्यता के विषयमें कोई भी आपत्ति शेष न रही ।

(जगतको सत्य कहनेवाले वचन)

इसके अतिरिक्त वेद–व्याख्या–रूप पुराणोंमें भी जगत्को सत्य कहनेवाले अनेक वचन हैं, जिनमेंसे कुछ प्रसिद्ध वचन यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् ।
आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत् ॥' इति विष्णुपुराणम् ।

अर्थ–संपूर्ण जगत् अविकारी और नित्य है, इसमें जो उत्पत्ति नाश प्रतीत होते हैं ये आविर्भाव–तिरोभाव–स्वरूप हैं ।

'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया ।
यथेदानीं तथा चाग्रे पश्चादप्येतदीदृशम् ॥

अर्थ—जगत् केवल ब्रह्म ही है, विष्णुकी माया—शक्तिसे स्थित है, जैसा अभी है ऐसा ही प्रथम था और पीछे भी ऐसा रहेगा ।

(संसार असत्य है, जगत् नहीं)

(१५) पूर्वोक्त अनुमान—तर्कोंसे तथा इन शास्त्र—वचनोंसे जगत् सत्य प्रमाणित होता है इसलिये पुराणोंमें जो कहीं २ जगत्को असत्य कहा है उसको वैराग्यार्थ समझना चाहिये । और कहीं मायिक भ्रमसे प्रतीत हुए वस्तु—स्वरूपोंको (जिन्हें आन्तरालिक सृष्टि कहते हैं) लक्ष्य करके भी जगत्को असत्य कहा है । केवल पुराणोंमें जो संसारको असत्य कहा है वह वास्तविक है, क्योंकि संसार यह नाम केवल अहन्ता और ममताके कारणभूत अभिमानका है, देहेन्द्रियोंका या पञ्च—महाभूत आदि तत्वोंका नहीं है, इसमें प्रमाण **"नैवात्मनो न देहस्य संसृतिः सुविविक्तयोः । अविवेकस्तयोर्योसाविह तस्यैव संसृतिः ।"**

अर्थ—आत्मा और देहके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान होनेके अनन्तर संसारका कुछ इनके साथ सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि आत्माका जो देहेन्द्रियादिकोंके साथ अज्ञान—मूलक अभेदाभिमान है वही संसार है ।

यह भागवतके एकादशस्कंधका वचन है ।

(संसारकी सृष्टि मायाके द्वारा होती है)

संसारकी सृष्टि भगवान् मायाके द्वारा करते हैं, इसलिये यह मायिक है, भगवद्रूप नहीं है । अत एव असत्य है । और ब्रह्म—ज्ञानसे संसारके बाध होनेका उल्लेख जहाँ हो वहाँ संसारशब्दका अर्थ यही अभिमानात्मक संसार समझना चाहिये, न कि जगत्, क्योंकि अज्ञान—कार्य होनेसे ब्रह्म—ज्ञानके द्वारा इसीका बाध होसकता है, ब्रह्म—स्वरूप जगत्का नहीं होसकता ।

(जगत् और संसार भिन्न नहीं है, जगत् असत्य है)

(१४—१५) **पूर्वपक्षी**—भागवतके **'य एष संसारतरुः पुराणः'** इस श्लोकमें जगत्का वृक्षरूपसे वर्णन करते हुए 'संसार' शब्दका प्रयोग किया है. और वर्णनके अन्तमें **"मायामयं वेद स वेद वेदम्"** इससे पूर्वोक्त संसार—शब्दार्थ जगत्को मायामय भी बताया है इसलिये जगत्को असत्य मानना आवश्यक है और इसे संसारसे भिन्न भी नहीं कह सकते । इसके अतिरिक्त **"तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपम्"**

इस वचनमें तो साक्षात् 'जगत्' शब्दसे इस जगत्का बोध कराकर असत्यता प्रमाणित की है इसलिये इसकी असत्यतामें संशय नहीं होसकता ।

और ये सभी वचन वैराग्यार्थ हैं इसलिये जगत्की असत्यता सिद्ध नहीं होती यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि नृसिंहोत्तरतापिनीके नवम खण्डकी "**तदेतज्जड-मोहात्मकमनन्तं तुच्छमिदं रूपमस्यास्या व्यञ्जिका**" (अर्थ-यह जगत् जड है, अज्ञान-स्वरूप है, तुच्छ है, इसके प्रवाहका कभी अन्त नहीं होता और इसको माया प्रकट करती है.) यह श्रुति भी जगत्को मायासे उत्पन्न और तुच्छ बताकर असत्य प्रमाणित करती है. और यह असत्य प्रमाणित करना वैराग्यार्थ नहीं होसकता, क्योंकि पुराण मित्रोंके समान रुचिके अनुसार स्तुति और निन्दाके साथ २ साधकको वेदोक्त अर्थका उपदेश करते हैं इसलिये उनमें किसी अंशका गौण अर्थ होना संभव है, परन्तु वेद राजाज्ञाके तुल्य हैं, ये कभी प्रशंसाके या निन्दाके आशयसे अप्रमाण कुछ नहीं कहते । और हम तो फिर भी तात्पर्य-ग्राहक प्रमाणोंके अनुरोधसे कई अंशोंमें गौण अर्थ मानते भी हैं, परन्तु तुम तो कुछ नहीं मानते इसलिये उपर्युक्त श्रुतिमें भी नहीं मान सकते । अत एव इसके अर्थका अनुवाद करनेवाले उक्त पुराण-वाक्योंको भी वैराग्यार्थ कहना असङ्गत है । जो वचन जगत् को नित्य कहते हैं उनका आशय प्रवाह-रूपसे नित्य कहना है. इसलिये किसी वचनका विरोध भी नहीं है । अतः पूर्वोक्तानुसार जगत्को ब्रह्ममें जीवाविद्यासे कल्पित और ब्रह्म-ज्ञानसे बाध्य मानना उचित ही है.

(सांख्य-स्वीकृत आन्तरालिकसृष्टि असत्य है, वैदिक सृष्टि नहीं)

सिद्धान्ती—नृसिंहोत्तरतापिनीकी श्रुति जगत्को असत्य नहीं कहती, किन्तु इसमें दृष्टि-गोचर होते हुए भेदके कारणोंको असत्य कह कर इसको ब्रह्मसे अभिन्न प्रमाणित करती है, क्योंकि इससे पूर्व "**न ह्यस्ति द्वैत-सिद्धिरात्मैव सिद्धोऽद्वितीयो मायया ह्यन्यदिव**" (अर्थ-वेदमें द्वैतकी सिद्धि कहीं भी नहीं है, '**एकमेवाद्वितीयम्**' आदि सभी श्रुतियाँ सब प्रकारके भेदोंसे रहित ब्रह्म ही का बोध कराती हैं, ब्रह्म भिन्नसा मायासे प्रतीत होता है) इस श्रुतिमें भेद-प्रतीतिको मायिक कह कर अभेदको वास्तविक बताया है; और इसके अनन्तर भी '**सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः**' इससे जडोंको और जीवोंको सर्वमय बताकर "सब धर्म, सब शक्तियाँ, सब प्रकारकी आकृतियाँ, सभी वस्तुओंमें सदा विद्यमान होनेसे परस्पर कोई भेद नहीं है" यही सिद्ध किया है । अतः इन पूर्वापर वाक्योंके अनुरोधसे '**तदेतज्जडमोहात्मकम्**' इसका भी तात्पर्य अभेद सिद्ध करना ही मान सकते हैं, न कि जगत्को मिथ्या कहना । इसी प्रकार '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' '**ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**' इत्यादि अन्य श्रुतियोंका भी ता-

त्पर्य **'तदनन्यत्व'** सूत्रके अनुसार जगत्कों ब्रह्मसे अभिन्न कहना ही है, प्रकार विशेषसे निषेधकर मिथ्या प्रमाणित करना नहीं है । अत एव **'य एष संसारतरुः पुराणः'** इत्यादि पुराण–वाक्योंको भी वैराग्यार्थ ही मानना ठीक है, क्योंकि पुराण वेदोंके व्याख्यारूप हैं इसलिये उपर्युक्त श्रुतियोंसे विरुद्ध ये वाक्य जगत्को असत्य प्रमाणित नहीं कर सकते ।

और **'य एष संसारतरुः'** इस वचनमें जगत्के लिये 'संसार'–शब्दके प्रयोग करनेका आशय तो केवल इतना ही है कि अहन्ता–ममताओंके मूल कारण अभिमानात्मक संसारका आलम्बन या आधार यही जगत् है, इसीके सम्बन्धसे संसारका उदय होता है, यह नहीं कि संसार और जगत् दोनों अभिन्न हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो **'अविवेकस्तयोर्योऽसाविह तस्यैव संसृतिः'** यह वचन केवल अविवेकको ही संसार न कहता ।

वस्तुतः **'य एष संसारतरुः'** यह वचन वैदिकी सृष्टिका वर्णन नहीं करता, किन्तु सांख्य–स्वीकृत आन्तरालिक सृष्टिका वर्णन करता है, क्योंकि इसीके समीप **'द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः'** इस वचनमें जो इस प्रस्तुत 'संसार' तरुके दो बीज बताये हैं ये प्रकृति–पुरुषात्मक दो बीज सांख्यशास्त्रमें ही प्रसिद्ध है, वेदमें तो एक ब्रह्मके अतिरिक्त और किसीको भी जगत्का बीज नहीं कहा है । अतः इस वचनसे वेद–वर्णित जगत्को संसारसे अभिन्न या मायामय (असत्य) प्रमाणित नहीं कर सकते ।

(जगत् जीवकी अविद्यासे कल्पित नहीं है)

अत एव उक्त जगत्को ब्रह्ममें जीवाविद्या–कल्पित भी नहीं मान सकते, क्योंकि कल्पित असत्य होता है । और जगत्को जीवाविद्यासे कल्पित मानना केवल प्रमाण–विरुद्ध ही नहीं हैं, किन्तु युक्ति विरुद्ध भी है, क्योंकि ब्रह्म अप्रत्यक्ष है और अप्रत्यक्ष वस्तुमें भ्रमसे कभी किसीकी कल्पना होती नहीं । शुक्तिमें भी भ्रमसे रजतकी कल्पना तभी होती है जब की शुक्ति प्रत्यक्ष हो जाती है । अतः ब्रह्ममें भी जगत्की कल्पना तभी हो सकती है जब कि ब्रह्म प्रत्यक्ष हो । और असत्य अविद्या जगत्की प्रतीति करानेंमें समर्थ भी नहीं होसकती, क्योंकि कार्य असत्य होता है, परन्तु कारण असत्य नहीं होता । लोकमें देखते हैं कि ऐन्द्रजालिकोंका दिखाया खेल असत्य होता है, परन्तु जिस विद्याके द्वारा खेल दिखाया जाता है वह असत्य नहीं होती ।

(ब्रह्म–ज्ञानसे लय संसारका होता है जगत्का नहीं)

और ब्रह्म–ज्ञानसे जगत्का बाध कहना तो एक प्रकारसे ब्रह्मज्ञानको ही असंभव प्रमाणित करना है, क्योंकि ब्रह्म–विद्याका उपदेश वही कर सकता है जो कि पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हो और जो पूर्ण–ब्रह्म–ज्ञानी है उसकों तो तुह्मारे मतके अनुसार जगत्का

बाध होजानेसे शिष्य ही दृष्टि–गोचर नहीं होते, वह उपदेश कैसे करेगा ? । अत एव **'तत्त्वमसि'** इस वाक्यमें 'त्वं' पदका कथन भी असङ्गत सिद्ध होता है, क्योंकि ब्रह्म–ज्ञानी उद्दालक को उसका पुत्र श्वेतकेतु दीखता ही नहीं, इसलिये वह 'त्वं' पदसे पुत्रके साथ व्यवहार भी नहीं कर सकता । अतः जगत्को जीवाविद्या–कल्पित और ब्रह्म–ज्ञानसे बाध्य मानना सर्वथा अयुक्त है । अत एव जगदसत्यताके निमित्तसे ब्रह्मके कर्तृत्व आदि गुणोंका निषेध भी नहीं होसकता ।

(अविद्या–युक्त ब्रह्मसे सृष्टि होती है और यह असत्य है)

(१६) **पूर्वपक्षी—'तत्त्वमसि'** (अर्थ–तूं ब्रह्म है) **'अयमात्मा ब्रह्म'** (अर्थ–यह जीवात्मा ब्रह्म है) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ जीवको ब्रह्मसे अभिन्न कहती हैं, परन्तु जीव और ब्रह्म यदि वस्तुतः दो पदार्थ हैं तो यह संभव नहीं है, क्योंकि कोई भी लौकिक दृष्टान्त इसका समर्थन नहीं करता । लोकमें जलका जलके साथ अभेद होता है, परन्तु जल सावयव है; कर–चरणोंका शरीरके साथ अभेद है, परन्तु वे अवयव हैं और शरीर अवयवी है; मृत्तिका–घटका मृत्तिकाके साथ अभेद है, परन्तु वह घट मृत्तिकाका विकार है, ऐसे सर्वत्र विकारी और सावयव पदार्थोंका ही अभेद देखा है, ब्रह्म और जीव जैसे निरवयव नित्य पदार्थोंका नहीं देखा । यद्यपि **'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** यह श्रुति ब्रह्म–ज्ञानसे जीवका ब्रह्म होना बतलाती है, परन्तु यह भी असंभव है, क्योंकि ज्ञानसे भी दो पदार्थोंका एक पदार्थ नहीं बन सकता । इससे निश्चित होता है कि जीव और ब्रह्म वस्तुतः दो पदार्थ नहीं है, किसी उपाधिके कारण दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं और उपाधि जब ब्रह्म–ज्ञानसे नष्ट होजाती है तब भेद नहीं रहता है इसीलिये उक्त श्रुति ब्रह्म–ज्ञानसे जीवका ब्रह्म होना बतलाती है । ज्ञानसे अज्ञानका ही नाश होसकता है और जो नष्ट होता है उसको असत् मानना भी आवश्यक है इसलिये **'ब्रह्म वेद'** इस श्रुतिसे यह भी सिद्ध होजाता है कि उक्त उपाधि अज्ञान–स्वरूपा, असती है, और यही स्वरूप अविद्याका है, अत एव अविद्योपाधि–युक्त ब्रह्म ही जीव है यह भी उक्त श्रुतियोंसे ही प्रमाणित होगया ।

ब्रह्म निरवयव, अविकारी है इसी कारण जगत्को भी ब्रह्म–स्वरूप नहीं कह सकते, क्योंकि जगत् विकारी और सावयव है । इसके अतिरिक्त—

'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्'

अर्थ–जहाँ द्वैत (जगत्) रहता है वहाँ अन्योन्य दर्शन–श्रवणादि होते है, परन्तु जहाँ अपने आत्माके सिवा कुछ है ही नहीं वहाँ किसको देखें और सुनें ।

यह श्रुति अविद्या-दशामें जगत्‌की प्रतीतिका वर्णन कर अविद्या-नाशके अनन्तर परम-मुक्ति-दशामें संपूर्ण जगत्‌का अभाव बताती है, यदि जगत् ब्रह्म-स्वरूप और सत्य होता तो यह श्रुति मोक्ष-दशामें इसका अभाव कैसे बताती। अतः जगत्‌को मिथ्या मानना उचित ही है।

यद्यपि इस मिथ्या जगत्‌का कर्ता और उपादान (जिससे वस्तु बने) ब्रह्म है यह **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'** आदि कुछ श्रुतियाँ कहती है, परन्तु **'निष्क्रियं निष्कलं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्'** (अर्थ-ब्रह्म क्रिया, अंश, दोष, दुःखादि रहित है) इत्यादि ब्रह्म-बोधिका श्रुतियोंसे यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्ममें क्रिया नहीं रहती (अर्थात् कर्ता नहीं होसकता) और ब्रह्म निरवयव है। अतः इन दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके अविरोधके लिये अविद्या-युक्त ब्रह्मको ही जगत्‌का कर्ता मानना ठीक है।

(शुद्ध ब्रह्मसे ही सृष्टि होती है इसलिये सृष्टि ब्रह्म-स्वरूप और सत्य है,)

(१७) **सिद्धान्ती—'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'** (अर्थ-मै केवल उस उपनिषदोंसे ज्ञात हुए पुरुषको पूछता हूँ) इस श्रुतिके कथनानुसार ब्रह्म-स्वरूपका ज्ञान केवल उपनिषदोंसे ही होसकता है और उपनिषदोंमें तो जैसे ब्रह्मको निरवयव कहा है, ऐसे ही जीव ब्रह्मका अंश है और जगत् ब्रह्म-स्वरूप है यह भी कहा है। अतः उपनिषदोंके अनुरोधसे ही यदि मानना है तो उपर्युक्त सभी मानना चाहिये। ब्रह्म निरवयव है इतने अंशको मानकर शेषका निषेध करना योग्य नहीं। और **'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्'** यह श्रुति तो परम-मुक्ति-दशामें नहीं, किन्तु निद्रा-दशामें दर्शन, श्रवण आदि कार्योंका निषेध करती है, यह **"स्वाप्यय-संपत्त्योः"** इस सूत्रके व्याख्यानसे स्पष्ट है। अतः इससे जगत् आविद्यक, असत्य सिद्ध नहीं होसकता।

पूर्वपक्षी—निरवयव और निष्क्रिय ब्रह्मका जीव अंश है और जगत् कार्य है यह परस्पर विरुद्ध और उपपत्ति-शून्य है, इसका कोई भी लौकिक दृष्टान्त समर्थन नहीं करता। अत एव यह माननीय नहीं होसकता।

(१८) **सिद्धान्ती**—कोई भी वैदिक अर्थ विरुद्ध या सन्दिग्ध प्रतीत हो तो उसका निर्णय किसी भी लौकिक दृष्टान्त या युक्तिके द्वारा नहीं होता, किन्तु स्मृति, पुराण, व्याससूत्र आदि शास्त्रोंके द्वारा ही होता है। और उपक्रम उपसंहार आदि तात्पर्य-बोधक लिङ्गोंमें भी उपपत्ति-शब्दसे लौकिक दृष्टान्तोंका या युक्तियोंका ग्रहण नहीं किया है, किन्तु उपनिषदोंमें और व्याससूत्रोंमें जो युक्तियाँ दिखाई हैं उन्हींका ग्रहण

है । क्योंकि **'नैषा तर्केण मतिरापनेया'** (अर्थ—तर्कसे कुछ भी निश्चय न करना चाहिये और न निश्चयका वारण करना चाहिये) **'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'** (अर्थ—अलौकिक अर्थोंमें तर्क न करना चाहिये) इत्यादि श्रुतियाँ और स्मृतियाँ अलौकिक अर्थमें लौकिक तर्कोंके उपयोगका निषेध करती हैं । और स्मृति—पुराण व्याससूत्रोंमें कहीं भी ऐसी युक्तियोंका उपन्यास नहीं किया है, जिनसे निरवयव और निष्क्रिय ब्रह्मका जीव अंश नहीं है और जगत् कार्य नहीं है यह प्रमाणित हो, प्रत्युत श्रुति—स्मृतियोंके अर्थका निर्णय करते हुए अनेक व्याससूत्रोंने जीवको ब्रह्मांश और जगत्को ब्रह्मकार्य सिद्ध किया है, जिनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्द–कोपो वा'

अर्थ—संपूर्ण ब्रह्म जगत्के रूपमें परिणत होता है या ब्रह्मका कुछ अंश ? यदि संपूर्ण ब्रह्म परिणत होता है तो जगत्से अतिरिक्त ब्रह्म कोई वस्तु ही न रहा, यदि ब्रह्मका कुछ अंश परिणत होता है तो ब्रह्मको निरवयव कहनेवाली **'निष्क्रियं निष्कलं शान्तम्'** इस श्रुतिका विरोध है इसलिये ब्रह्मका परिणाम नहीं मान सकते ।

इस शङ्काका उपन्यास कर **'तदात्मानं स्वयमकुरुत'** (अर्थ—ब्रह्मने अपने स्वरूपको जगत्के रूपमें परिणत किया) इस श्रुतिके आधार पर उत्तर दिया कि—

'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्'

अर्थ—श्रुति कहती है कि ब्रह्म जगत्के रूपमें परिणत हुआ है इसलिये मानना चाहिये, क्योंकि—ब्रह्मका सपरिकर स्वरूप वेदसे ही मालूम होता है ।

इससे जगत् ब्रह्म—स्वरूप है यह निर्विघ्न सिद्ध होता है ।

और इससे यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म—स्वरूपकी आलोचना लोक—दृष्टिसे नहीं होसकती, क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप अलौकिक और विलक्षण है, और यह ठीक ही है, क्योंकि लोकमें भी कई ऐसे पदार्थ हैं कि जिनके स्वरूपका लौकिक तर्कोंसे ठीक २ निर्णय करना मनुष्यके लिये कठिन है तो लोक—विलक्षण ब्रह्म—स्वरूपका ठीक निर्णय इनसे कैसे होसकता है, अत एव प्रमाणोंके अनुसार निरवयव ब्रह्मका जीव अंश है यह माननेमें भी कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होसकती ।

(अन्तःकरणावच्छिन्न या अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही जीव है)

पूर्वपक्षी—वैदिक अर्थके सन्दिग्ध अंशको स्पष्ट करनेके लिये भगवान् वेदव्यासने सूत्रोंकी रचना की है, इसलिये कोई भी व्याससूत्र ऐसा गोलमाल नहीं कह सकता कि निरवयव ब्रह्मका जीव अंश है ।

और ऐसे परस्पर विरुद्ध सिद्धान्त स्वीकार करनेकी अपेक्षा तो ब्रह्म–बिन्दूपनिषद्‌की श्रुतिके अनुसार जीवको उपाध्यवच्छिन्न चैतन्य मानना ही ठीक है । उक्त श्रुति इस प्रकार है—

‘घटसंवृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा ।
घटो लीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः’

अर्थ–जैसे घटके नष्ट होनेपर भी घट–परिच्छिन्न आकाश नष्ट नहीं होता, ऐसे ही उपाधिके (अन्तःकरण या अविद्याके) नष्ट होनेपर भी जीव नष्ट नहीं होता ।

इस श्रुतिके घटाकाश–दृष्टान्तसे उपाधि–परिच्छिन्न चैतन्य ही जीव है यह स्पष्ट सिद्ध होता है ।

(जीव ब्रह्मका अंश है)

सिद्धान्ती—‘घट-संवृतमाकाशम्’ इस श्रुतिके अनुसार जीवको अविद्याऽवच्छिन्न या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य नहीं मान सकते, क्योंकि अनेक श्रुतियाँ और स्मृतियां जीवको ब्रह्मांश कहती हैं और इनके अर्थ–निर्णायक व्याससूत्रोंमें भी जीवको ब्रह्मांश ही कहा है । इनमेंसे कुछ श्रुति–स्मृति–सूत्र ये हैं—

‘यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे जीवाः सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति रमणीयचरणाः कपूयचरणा’ इति छान्दोग्योपनिषद् ।

अर्थ–जैसे अग्निसे छोटे २ अग्नि–कण प्रकट होते हैं, इसी प्रकार इस ब्रह्मसे सब प्राण, सब लोक, सब अन्तःकरण और सच्चरित असच्चरित सभी जीव प्रकट होते हैं ।

इस श्रुतिके अग्निकण–दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि ‘जैसे अग्निकण अग्निके अंश हैं, इसी प्रकार जीव भी ब्रह्मांश हैं ।’ और अग्निकणोंके समान प्रकट होना भी तभी संभव है जब कि जीव ब्रह्मांश हो ।

‘ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः’ इति गीता

(अर्थ–जीवलोकमें तिरोहितानन्द, अनादि चैतन्य मेरा अंश है ।) इसमें अंश–शब्द स्पष्ट ही है ।

(१७) **‘अंशो नाना–व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके’** इति व्याससूत्रम् ।

अर्थ–जीव ब्रह्मका अंश है, क्योंकि कहीं जीवको ब्रह्म कहा है, कहीं जीवका ब्रह्मसे प्रकट होना बताया है, कहीं जीवकी व्यापकताका उल्लेख है, कहीं अणुत्वका है; और

इन सभी परस्पर विरुद्ध उक्तियोंकी संगति तभी होसकती है जब कि जीवको ब्रह्मांश मानें। और '**ब्रह्मेमे दाशा ब्रह्मेमे दासा ब्रह्मेमे कितवा उत**' यह श्रुति भी दास–धीवर–धूर्तोंकों पूर्ण ब्रह्म नहीं कहती, किन्तु इनके शरीरोंको ब्रह्म–कार्य और अन्तरात्माओंको ब्रह्मांश कहती है ।

यह सूत्र भी विरुद्ध पक्षका समाधान करता हुआ जीव ब्रह्मांश है इसीको दृढ करता है । अतः '**घटसंवृतमाकाशम्**' इस श्रुतिने जो जीवके लिये घटाकाशकी उपमा दिखाई है इसका केवल इतना ही तात्पर्य मान सकते हैं कि जैसे घटके विकार घटाकाशको स्पर्श नहीं करते, ऐसे ही स्थूल सूक्ष्म शरीरोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले विकार जीवात्माको स्पर्श नहीं करते, यह नहीं कि उपाधि–परिच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है ।

(जीव ब्रह्मांश नहीं, ब्रह्मांश–सदृश है)

पूर्वपक्षी—'अंशो नानाव्यपदेशात्' इससे पूर्वके अधिकरणमें ईश्वर जीवोंको धर्माधर्मोंके अनुसार सुख दुःख देता है यह वर्णन है और यह सुख दुःख देना तभी संभव है, जब कि जीवोंके साथ ब्रह्मका कुछ सम्बन्ध हो, क्योंकि सर्वथा सम्बन्धशून्यसे सुख दुःख लाभ होसकता है इसका कोई भी लौकिक दृष्टान्त समर्थन नहीं करता । अत एव सम्बन्धकी आवश्यकता हुई और इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये "**अंशो नानाव्यपदेशात्**" यह सूत्र प्रवृत्त हुआ । अतः इसमें अंशशब्दसे केवल सम्बन्ध–मात्रके बोध करानेकी अपेक्षा है, जीवको अवयव कहनेकी नहीं है । और यह शास्त्रका पारिभाषिक शब्द है इसलिये इसका लोक–दृष्टिसे अर्थ हो भी नहीं सकता । यहाँ केवल अंश कहनेका इतना ही तात्पर्य है कि जैसे अंश अपने अंशीसे भिन्न कहा जाता है और अभिन्न भी, ऐसे ही जीवकों भी कुछ श्रुतियाँ ब्रह्मसे भिन्न कहती हैं और कुछ अभिन्न कहती हैं इसलिये यह ब्रह्मांश है, अर्थात् ब्रह्मांश–सदृश है ।

और जीवकों अंश प्रमाणित करनेके लिये "**यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा**" इस श्रुतिका उपन्यास करना तो अनुपयुक्त है, क्योंकि इसमें अंश–वाचक कोई शब्द नहीं है ।

(जीव अंश और अणु है)

सिद्धान्ती—'अंश'शब्दका 'अंश–सदृश' यह अर्थ, मुख्य है या गौण ? । यदि मुख्य है तो ऐसा कोई शास्त्रीय–व्यवहार उदाहरणके लिये बताना चाहिये जिसमें अंशशब्दका सर्वदा अंश–सदृश ही अर्थ होता हो । यदि गौण है तो मुख्य अर्थका त्याग कर ऐसे गौण अर्थ स्वीकार करनेका क्या कारण है, बताना चाहिये । और "**अंशो नानाव्यपदेशात्**" इस सूत्रके अनन्तर "**मन्त्रवर्णात्**" "**अपि च स्मर्यते**" इन दो सूत्रोंके द्वारा जीवको फिर भी अंश कहा है । और उक्त द्वितीय सूत्रके "**ममैवांशो**

जीव–लोके" इस विषय–वाक्यमें स्पष्ट ही अंश पदका प्रयोग है। कदाचित् एक दो स्थलोंमें किसी प्रकार गौण अर्थका होना संभव है, परन्तु सर्वत्र नहीं होसकता। अतः जीवको अंश ही मानना चाहिये।

(२४) यद्यपि **"यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा"** इस श्रुतिमें अंशवाचक शब्द नहीं हैं, परन्तु अग्निकणोंका दृष्टान्त ऐसा उत्तम है कि जिसके द्वारा केवल अंशता ही नहीं, किन्तु जीवसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी विषय बडी ही सरलतासे सिद्ध होजाते हैं। इनमें प्रधानतः ये सात विषय हैं–जैसे अग्निके कण अग्निके अंश है, ऐसे ही जीव ब्रह्मके अंश है। अग्निकणोंकी अपेक्षा अग्निका स्वरूप बडा है, ऐसे ही जीवोंसे भी ब्रह्म बडा है। अग्निसे अग्निकण बहुत छोटे हैं, ऐसे ही जीव भी ब्रह्मसे छोटे हैं अर्थात् अणु हैं। अग्नि–कणोंका अग्निसे प्रकट होना केवल विभागमात्र है, उत्पत्ति नहीं है, ऐसे ही जीवोंका ब्रह्मसे प्रकट होना भी केवल विभागमात्र है, उत्पत्ति नहीं है। अग्नि–कणोंकी अग्निमें पुनः प्रवेश करनेकी योग्यता होती है, ऐसे ही जीवोंकी भी ब्रह्ममें पुनः प्रवेश करनेकी योग्यता है। अग्निकण अग्निमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर भिन्न प्रतीत नहीं होते, ऐसे ही जीव ब्रह्ममें प्रविष्ट होनेके अनन्तर भिन्न प्रतीत नहीं होते। प्रवेशके अनन्तर विस्फुलिङ्गोंमें अग्निसे पुनः प्रकट होनेकी योग्यता रहती है, ऐसे ही जीवमें भी मुक्त–दशाके लयके अनन्तर पुनः प्रकट होनेकी योग्यता रहती है। ये उक्त दृष्टान्तसे प्रतीत हुए सभी विषय श्रुति, स्मृति, व्याससूत्र आदि अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध हैं. इसलिये इनके स्वीकार करनेमें कोई भी आपत्ति नहीं होसकती।

(१९–२३)—**पूर्वपक्षी**—अग्निविस्फुलिङ्गोंके दृष्टान्तसे अंशत्व अणुत्व आदि सप्त-धर्मोंको सिद्ध करना अयोग्य है, क्योंकि व्युच्चरण–श्रुतिमें तुह्मारे मतके अनुसार केवल जीवात्माओंके ही प्रकट होनेका वर्णन नहीं है, किन्तु लोक प्राण अन्तःकरणोंके भी प्रकट होनेका वर्णन है। यदि उक्त दृष्टान्तसे जीव अंश और अणु प्रमाणित होंगे तो, साथ ही लोक, प्राण, अन्तःकरण भी अंश और अणु प्रमाणित होजाएँगे।

और वस्तुतः व्युच्चरण–श्रुतिमें जीवात्माओंके प्रकट होनेका वर्णन मान भी नहीं सकते, क्योंकि व्युच्चरित होनेवाले पदार्थोंमें लोक, प्राण, अन्तःकरण अनित्य हैं. और जीव नित्य हैं इसलिये इन सभीके साथ सम्बन्ध करनेके लिये 'व्युच्चरन्ति' इस एक ही क्रिया–पदके उत्पत्ति और आविर्भाव ऐसे दो अर्थ मानने आवश्यक होंगे, और एक ही पदके दो अर्थ मानना 'सकृदुच्चरित' न्यायके अनुसार विरुद्ध है। यदि 'व्युच्चरन्ति' पदकी आवृत्ति भी कीजाय, तथाऽपि क्लिष्ट अवश्य है। अतः इसमें बुद्धि, प्राण आदि मायिक अनित्य पदार्थोंकी उत्पत्तिका वर्णन मानना ही ठीक है. जिसमें 'व्युच्चरन्ति' पदके दो अर्थ माननेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है।

सिद्धान्ती—यदि केवल अग्नि–विस्फुलिङ्ग–दृष्टान्तसे ही पूर्वोक्त सप्त धर्मोंको सिद्ध करना होता तो अवश्य ही तुह्मारी कही हुई आपत्तियाँ अनिवार्य होतीं, परंतु–

"**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**" (अर्थ–सभी जीव इस ब्रह्मके अंश है) '**ममैवांशो जीवलोके**' '**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः**' (अर्थ–इस अणु जीवात्माको चित्तसे जानना चाहिये) '**नित्यः सर्वगतस्थाऽणुः**' अर्थ–यह जीवात्मा नित्य, अन्तर्यामि–रूप परमात्माके साथ हृदयमें रहनेवाला और अणु है ।

इत्यादि अन्य भी अनेक प्रमाण उक्त धर्मोंका बोध कराते हैं और इन्हींके अनुकूल अग्निविस्फुलिङ्ग–दृष्टान्त भी उपर्युक्त सात विषयोंका परिज्ञान कराता है, अतः इसकी ज्ञापक शक्तिको संकुचित करनेके लिये कोई भी आपत्ति उपस्थित नहीं होसकती ।

और जीव तथा अन्तर्यामीके अतिरिक्त शेष पदार्थोंको कोई भी प्रमाण अंश नहीं कहता इसलिये उक्त दृष्टान्तसे प्रतीत हुए भी अंशत्वका उनके साथ सम्बन्ध नहीं होता है । इसी प्रकार इन्द्रिय, जीव और अन्तर्यामियोंके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके साथ अणुत्वका भी सम्बन्ध नहीं है । यद्यपि संपूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है इसलिये नित्य तो सभीको मानते हैं, परन्तु जीव और अन्तर्यामियोंको अनेक प्रमाण विशेष–रूपसे नित्य कहते हैं इसलिये अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा इनकी नित्यतामें कुछ विलक्षणता स्वीकार करते हैं । और इसी विलक्षणताके निर्वाहके लिये ब्रह्ममें लय होनेके अनन्तर जीव ब्रह्मसे अभिन्न सा प्रतीत होता है, परन्तु सर्वथा अभिन्न नहीं होता यह अग्निविस्फुलिङ्ग–दृष्टान्तके अनुसार प्रथम कहा है ।

(२४) और "व्युच्चरन्ति" पदका भी यहाँ 'प्रकट होते हैं' यह एक ही अर्थ है, दो अर्थ स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जडोंकी और चेतनोंकी नित्यत्व–विलक्षणताके निर्वाहके लिये प्राकट्यके स्वरूपमें जो अन्तर माना जाता है उसीकी प्रतीति लोकमें उत्पत्ति, आविर्भाव आदि शब्दोंसें कराई जाती है, वस्तुतः उत्पत्ति और प्राकट्य भिन्न पदार्थ नहीं हैं । यह प्राचीन आचार्योंकी इस उक्तिसे स्पष्ट होजायगा ।

"अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः ।
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा" १ ॥

अर्थ—अनित्य वस्तुओंकी अभिव्यक्तिको उत्पत्ति, नित्य अणु पदार्थोंकी अभिव्यक्तिको समागम, और नित्य व्यापक पदार्थोंकी अभिव्यक्तिको प्राकट्य कहते हैं, इस प्रकार अभिव्यक्तिके तीन भेद हैं ।

पूर्वपक्षी—तुह्यारे मतमें जड और जीव दोनों भी ब्रह्म–स्वरूप हैं इसलिये इनकी नित्यतामें वैलक्षण्य माननेका कोई कारण नहीं है ।

और नित्य कहनेवाले प्रमाण तो जड और जीव दोनोंकी नित्यतामात्रका बोध कराते हैं, इस विलक्षणताकों नहीं कहते, इसलिये यह विलक्षणता सर्वथा प्रमाण–शून्य है, माननीय नहीं होसकती ।

(ब्रह्म–धर्मोंके न्यूनाधिक तिरोभावसे जड–जीव–अन्तर्यामियोंका स्वरूप–भेद हुआ है)

(१२) **सिद्धान्ती**—ब्रह्मने क्रीडाके लिये इस जगत्का निर्माण किया है जो कि

'स वै नैव रेमे, एकाकी न रमते, 'स द्वितीयमैच्छत्' ।

अर्थ—ब्रह्मने रमण नहीं किया, क्योंकि अकेला था, इसीलिये उसने दूसरेकी इच्छा की ।

इस श्रुतिसे सिद्ध होता है और क्रीडा अनेकता तथा उच्च–नीचभावके विना हो नहीं सकती इसलिये जगत्में इन दोनोंकी रचना भी की है । इनका परिचय **'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'** इस सिसृक्षा–प्रतिपादक श्रुतिके द्वारा दिया है । श्रुतिमें **'एकोऽहं बहु स्याम्'** इतने अंशका बहुभवन अर्थ है जिसमें अनेकताका समावेश है और **'प्रजायेय'** इस अंशका अक्षरार्थ प्रकृष्ट जनन है जिसका तात्पर्यरूपसे पर्यवसान उच्चनीचभावमें होता है ।

इसी अनेकताके और उच्चनीचभावके लिये ब्रह्मने अपने धर्मोंका प्रापञ्चिक पदार्थोंमें न्यूनाधिक रूपसे तिरोभाव किया है, जिनमें से कुछ प्रधान धर्मोंके तिरोभावका यहाँ उदाहरणोंके द्वारा दिग्दर्शन कराया जाता है ।

(२०) ब्रह्मके धर्म यद्यपि अनन्त हैं, तथापि सत्, चित् और आनन्द ये तीन धर्म प्रधान हैं । इनका परिचय **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस ब्रह्म–स्वरूप–निरूपक श्रुतिके द्वारा मिलता है । श्रुतिमें 'सत्य'–पदसे सत्का, 'ज्ञान'से चित्का और 'अनन्त' पदसे आनन्दका बोध कराया है । किसी शाखामें **'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** ऐसा 'अनन्त' पदके स्थानमें स्पष्ट 'आनन्द' शब्दकों भी पढ दिया है । ये तीनों धर्म ब्रह्ममें धर्मरूपसे नहीं, किन्तु धर्मि–रूपसे ही प्रतीत होते हैं ।

इन धर्मोंके अनुसार प्रापञ्चिक पदार्थोंके भी तीन विभाग हैं–जड, जीव और अन्तर्यामी । जिनमें चित् और आनन्द दोनोंका तिरोभाव है वे जड हैं; जिनमें केवल आनन्दका तिरोभाव है वे जीव हैं; जिनमें सत् चित् और आनन्द सभी प्रकट हैं, किसीका भी तिरोभाव नहीं है वे अन्तर्यामी हैं ।

जडोंमें चित् और आनन्दके तिरोहित होनेसे उत्पत्ति, विनाश, उपचय, अपचय आदि विकार दृष्टि–गोचर होते हैं; परन्तु जीवोंमें चित्का तिरोभाव न होनेसे उनमें नहीं होते, आनन्दका तिरोभाव होनेसे दुःखमात्र प्रतीत होता है । अन्तर्यामियोंमें उक्त धर्मोंमेंसे किसीका भी तिरोभाव नहीं है इसलिये इनमें उक्त बाह्य और आन्तर कोई भी विकार प्रतीत नहीं होते ।

यह जड, जीव और अन्तर्यामियोंका स्वरूप–भेद पूर्वोक्त प्रमाण तथा और भी अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध है । अतः इसके निर्वाहके लिये इनकी नित्यतामें परस्पर विलक्षणता मानना अकारण या अप्रमाण नहीं है ।

(जड–जीव–अन्तर्यामियोंका स्वरूपभेद अनादि है या सादि)

पूर्वपक्षी—जड, जीव और अन्तर्यामियोंका स्वरूप–भेद अनादि है ? या सादि ?। यदि अनादि है तो इसे ब्रह्मने किया यह कैसे संभव है, क्योंकि अनादिको कोई करता नहीं । यदि सादि है तो जड–जीवोंको प्रकट करनेके समय पूर्व कर्म तो थे ही नहीं । अतः विना कर्म बनाया कैसे ? । यदि कर्मोंके न होते हुए भी ब्रह्मने अपनी क्रीडाके लिये इस स्वरूप–भेदकी रचना की है तो ऐसी रचना करनेवालेको ब्रह्म नहीं कह सकते, क्योंकि शास्त्रोंमें सृष्टिकर्ता ब्रह्मको आप्तकाम और दयालु कहा है और जो आप्त–काम है जिसे कुछ भी प्राप्त करना नहीं है उसे क्रीडाके आनन्दकी भी आवश्यकता नहीं है इसलिये वह क्रीडाकी इच्छा नहीं कर सकता । और दयालु होनेसे आनन्दका तिरोभाव कर निष्कारण जीवको दुःखित भी नहीं कर सकता । अतः तुह्मारे कथनानुसार जड जीवान्तर्यामियोंके स्वरूप–भेदकी उपपत्ति नहीं होसकती ।

(२१) **सिद्धान्ती**—अहो ! बडी आश्चर्यकी बात है कि जो अनेक ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि अपनी इच्छासे किसीके अधीन न रहते हुए करता है उसे तो तुम ब्रह्म या ईश्वर नहीं कह सकते और जो कर्मोंका दास बनकर सृष्टि रचता है उसे ईश्वर कहते हो । ईश्वर तो उसे कहना चाहिये जो कि सर्व–समर्थ हो और जो सर्व–समर्थ होगा वह कर्मोंके अधीन क्यों रहेगा ? । अतः आप्त कामताका और दयालुताका बहाना लेकर ईश्वरके सभी कार्योंमें जीवोंके धर्माधर्मोंकी अपेक्षा कहना अत्यन्त ही अनुचित है ।

और जड, जीव, अन्तर्यामी सभी ब्रह्म–स्वरूप हैं इसलिये क्रीडार्थ इनकी पारस्परिक विचित्रता करनेसे ब्रह्मकी आप्त कामताका और दयालुताका भङ्ग हो भी नहीं सकता, क्योंकि आप्त कामताका अर्थ अपनेसे किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं करना है और लोकमें दयालुताका भङ्ग भी वहीं माना जाता है जहाँ अपनेसे किसी अन्यको दुःखित किया जाता है ।

और वस्तुतः दयालुता–भङ्ग अस्वतन्त्र जीवोंके ही लिये दोष–रूप होसकता है, ईश्वरके लिये नहीं होसकता। लोकमें देखते हैं कि साधारण मनुष्य यदि किसीके विषयमें निर्दयताका व्यवहार करे तो उसे सभी निर्दय कहते हैं, परन्तु राजा साधारण अपराधसे रुष्ट होकर सेवकका सर्वस्व छीन लेते हैं और उन्हें कोई निर्दय नहीं कहता! जब कि लौकिक ईश्वरोंके ही विषयमें यह दशा है तो फिर संपूर्ण ब्रह्माण्डोंका सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र सम्राट् ईश्वर यदि अपने सहज सेवक जीवकी परिस्थितिमें कुछ परिवर्तन कर दे तो उसे कोई कैसे निर्दय कह सकता है। अतः हम इस दोषके भयसे जड–जीवान्तर्यामियोंके स्वरूप–भेदको अनादि नहीं मान सकते।

(प्रापञ्चिक विचित्रतामें धर्माधर्म ही कारण हैं या ईश्वरकी इच्छा)

पूर्वपक्षी—प्रपञ्चकी विचित्रता करनेमें और जीवोंको सुख दुःख देनेमें ईश्वर जीवोंके कर्मोंकी अपेक्षा नहीं करता है यह कथन तुह्मारे मतके अनुकूल नहीं है, क्योंकि तुम अपने मतमें व्याससूत्रोंके अनुसार संपूर्ण निर्णय करते हो और व्याससूत्रसे यह स्पष्ट ही प्रमाणित होता है कि परमात्मा धर्माधर्मानुसार ही जीवोंको सुख दुःख आदि देता है।

व्याससूत्र यह है—

'कृत प्रयत्नापेक्षस्तु विहित–प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः'

अर्थ—सुखका कारण धर्म और दुःखका कारण अधर्म है यह वेदकी उक्ति व्यर्थ न हो, इसलिये परमात्मा जीवोंको धर्माधर्मानुसार ही सुख दुःख आदि देता है।

इसीसे संपूर्ण प्रपञ्चकी रचना परमात्मा धर्माधर्मानुसार करता है यह भी सिद्ध होजाता है, क्योंकि सुख–दुःखोंकी प्राप्तिका साधन प्रपञ्च ही है।

और कर्मोंकी अपेक्षा करनेसे ईश्वर अनीश्वर भी नहीं होसकता। लोकमें देखते हैं कि स्वामी अपने सेवकको सेवाके अनुसार वेतन देता है, परन्तु स्वामीको कोई भी असमर्थ नहीं कहता। अतः जैसा लोकमें देखते हैं वैसा ईश्वरके लिये भी मानना चाहिये।

(२२) **सिद्धान्ती—"कृतप्रयत्नापेक्षस्तु"** इस सूत्रका अर्थ तुम कहते हो वैसा नहीं है, क्योंकि प्रयत्न–शब्दका अर्थ धर्माधर्म नहीं होसकता, प्रयत्न–शब्दका लोकमें सर्वत्र शारीरिक व्यापारका कारण जो आत्म–धर्म है, जिसे अनेक शास्त्रकार कृति कहते हैं, वही अर्थ है। और गौण रीतिसे 'प्रयत्न' शब्दका धर्माधर्म अर्थ मान भी लिया जाय तो **'विहित–प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः'** यहाँ "विहित" "प्रतिषिद्ध" शब्दोंके प्रयोग करनेका स्वारस्य नष्ट होजाता है, क्योंकि विधि–निषेध शब्दोंका परित्याग कर "विहित" "प्रतिषिद्ध" इन अधिकाक्षर शब्दोंका प्रयोग धर्माधर्मोंका बोध करानेके ही

लिये किया गया है, यदि धर्माधर्मोंका बोध 'प्रयत्न' शब्दसे ही होजाता तो इनके पुनः बोध करानेकी तथा इसके लिये ऐसे अधिकाक्षर शब्दोंका प्रयोग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी, केवल लघ्वक्षर विधि-निषेध शब्दोंका ही प्रयोग कर देना चाहिए था जिससे वही तात्पर्य सिद्ध होजाता ।

पूर्वपक्षी—'प्रयत्न' शब्दका केवल आत्म-धर्म कृति ही अर्थ नहीं है, किन्तु अनेक स्थलोंमें कायिक व्यापार भी अर्थ होता है, अतः प्रसङ्गानुसार यहाँ भी प्रयत्न-शब्दका धर्माधर्म अर्थ मानना अयोग्य नहीं है ।

और विहित-प्रतिषिद्ध शब्दोंके स्थानमें विधि-निषेध शब्दोंका प्रयोग करनेसे अभीष्ट अर्थका बोध होसकता है, परन्तु ऋषिप्रणीत शास्त्रोंमें अर्थकी ओर ही विशेष ध्यान दिया जाता है, शब्द लाघवकी ओर ऐसी विशेष दृष्टि नहीं रक्खी जाती । और तुह्मारे मतमें भी विहित-प्रतिषिद्ध-शब्दोंका धर्माधर्म ही अर्थ है । अतः यह आपत्ति तो तुह्मारे लिये भी है ।

सिद्धान्ती—"**कृतप्रयत्नापेक्षः**" इस सूत्रमें तुह्मारे मतके अनुसार "कृतप्रयत्न" शब्दसे जिन धर्माधर्मोंका बोध होता है वे धर्माधर्म जीवोंने स्वयं किये है या ईश्वरने करवाये हैं ? । यदि स्वयं किये हैं तो जैसे वे किये गये, ऐसे ही अब ये भी कर लिये जाएँगे, फिर ईश्वरकी क्या आवश्यकता है ? । यदि ईश्वरने करवाये हैं तो वे कौनसे धर्माधर्मोंके अनुसार करवाये, क्योंकि उनसे पूर्व कोई धर्माधर्म थे ही नहीं । और जगत्का प्रवाह अनादि है, इसलिये पूर्व २ धर्माधर्मोंके अनुसार ईश्वर उत्तरोत्तर धर्माधर्म करवाता है यह कह नहीं सकते, क्योंकि इसका तात्पर्य "जन्मान्तरीय पुण्यकर्मोंके संस्कारोंका उदय होनेसे जब जीव पुण्य कर्म करना चाहता है तब ईश्वर उससे पुण्य कर्म करवाता है, और पापकर्मोंके संस्कारोंका उदय होनेसे जब जीव पाप कर्म करना चाहता है तब ईश्वर उससे पाप कर्म करवाता है" यही है, और ऐसा माननेसे ईश्वरकी आवश्यकता ही नष्ट होजाती है, क्योंकि जिन संस्कारोंके प्रकट होनेसे जीव पूर्व कर्मोंके सदृश कर्मोंको करना चाहते हैं वे संस्कार ही जीवोंको वैसे कार्योंमें प्रवृत्त भी कर सकते हैं ।

और पूर्व कर्मोंके संस्कारानुसार ही यदि जीव प्रवृत्त होते हैं तो वेदमें धर्मोंका विधान और अधर्मोंका निषेध भी क्यों करना चाहिये, क्योंकि जिसका जैसा संस्कार होगा वह वैसे कार्योंमें स्वयं ही प्रवृत्त होजायगा । इस प्रकार तुह्मारे कहे हुए अर्थको स्वीकार करनेसे ईश्वर, वैदिक कर्म-काण्ड, धर्म-शास्त्र आदि सभी व्यर्थ होते हैं । इसलिये इसे स्वीकार नहीं कर सकते ।

पूर्वपक्षी—याग, होम आदि जड कर्म स्वतः अपने फलको नहीं दे सकते, इसलिये ईश्वरको स्वीकार करना आवश्यक है।

और पूर्व कर्मोंके अनुसार जीवोंकी प्रवृत्ति माननेसे वेदके विधि–निषेध व्यर्थ नहीं होसकते, क्योंकि पूर्व कर्म वासनाद्वारा प्रवृत्तिमें सहायक होसकते हैं, परन्तु धर्माधर्मोंके स्वरूपका ज्ञान नहीं करा सकते। अतः धर्माधर्मोंके स्वरूप–ज्ञानके लिये वेदके विधि–निषेधोंकी भी आवश्यकता है।

सिद्धान्ती—याग, होम आदि वेदोक्त कर्मोंका स्वरूप कैसा है? और इनसे यथोक्त फलका लाभ होसकता है या नहीं? इसका निर्णय वेदसे ही होता है और वेद जब यह कहता है कि "याग, होम आदि कर्मोंसे स्वर्गादिफलोंका लाभ होता है," तब फिर इसके अनुरोधसे यागादि कर्मोंका ही स्वरूप ऐसा क्यों न मान लिया जाय, जिससे ईश्वरकी अपेक्षा ही न हो।

और वेदके विधि–निषेधोंका केवल धर्माधर्मोंके स्वरूप–ज्ञानमें उपयोग कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुह्मारे मतके अनुसार ईश्वर साक्षात् या और किसीके द्वारा तो शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति और अशुभकार्योंसे निवृत्ति करवा सकता ही नहीं, केवल वेदके ही द्वारा करवा सकता है, अब वेद भी यदि केवल धर्माधर्मोंके स्वरूपका परिचय देकर विश्राम कर लेता है तो प्रवृत्ति निवृत्ति कैसे होगी?। यदि ईश्वर अपनी इच्छाके द्वारा प्रवृत्ति निवृत्ति करवाता है तो जन्मान्तरीय कर्मसंस्कारोंकी सहायताकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि विना ही उनकी सहायता ईश्वर प्रवृत्ति निवृत्ति करवा सकेगा।

पूर्वपक्षी—जन्मान्तरीय कर्म–संस्कारोंकी सहायताके विना ही शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति करवाकर फल देनेसे ईश्वरको वैषम्य (पक्षपात) नैर्घृण्य (निर्दयता) दोष स्पर्श करते हैं, इसलिये उक्त संस्कारोंकी सहायता स्वीकार करना आवश्यक है।

सिद्धान्ती—उक्त संस्कारोंके अनुसार शुभाशुभ कार्योंमें जीव स्वयं प्रवृत्त होते हों और फिर उनको ईश्वर यदि कर्मानुसार फल देता हो, तब तो वैषम्य या नैर्घृण्य दोषके स्पर्शकी कोई आपत्ति नहीं आसकती, परन्तु उक्त संस्कारोंकी सहायता होते हुए भी यदि ईश्वर स्वयं शुभाशुभ कर्मोंको करवाता है और उनके अनुसार फल भी स्वयं ही देता है तो अवश्य ही विषम और निर्घृण प्रमाणित होजायगा।

और जीव अल्पज्ञ हैं, इसलिये ये अपने हिताहितका विचार कर भी नहीं सकते, कदाचित् कर भी लिया तो हितके लिये पर्याप्त चेष्टा नहीं कर सकते। ऐसी अवस्थामें यदि ईश्वर सर्वज्ञ और सर्व–समर्थ होता हुआ भी इनको शुभकार्योंमें प्रवृत्त नहीं करता

है,तो अवश्य ही विषम और निर्घृण है, उक्त संस्कारोंकी सहायता इसे इन दोषोंसे मुक्त नहीं कर सकती ।

पूर्वपक्षी—तुह्मारे मतमें तो इससे भी अधिक आपत्ति है, क्योंकि तुम **'एष उ एव साधु कर्म कारयति' 'एष उ एवासाधु कर्म कारयति'** (अर्थ–योग्य और अयोग्य कर्म यह ईश्वर ही करवाता है) इन श्रुतियोंके अनुसार प्रवृत्ति–निवृत्तियोंमें केवल ईश्वरेच्छाको ही कारण मानते हो और ऐसा माननेपर, वैषम्य नैर्घृण्य दोष तो ईश्वरको अवश्य स्पर्श करते ही हैं, परन्तु साथ ही वैदिक विधि निषेध भी व्यर्थ होजाते हैं, कारण यही कि शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति और अशुभकार्योंसे निवृत्ति जो इन विधि–निषेधोंके द्वारा होती थी वह अब ईश्वरच्छाके द्वारा ही होजाती है ।

सिद्धान्ती—इस प्रपञ्चकी रचना क्रीडाके लिये कीगई है और क्रीडा मर्यादाके विना हो नहीं सकती इसलिये सृष्टिके प्रारम्भसे ही परमात्माने 'अमुक २ जीवोंको अमुक साधनोंके द्वारा अमुक देशमें अमुक कालमें सुख–दुःख–लाभ हो' ऐसी मर्यादा नियत कर दी है और इसी मर्यादाके परिचयके लिये वेदको प्रकट किया है । जो सुख–साधन हैं उनका वेदमें विधान किया गया है और जो दुःख–साधन हैं उनका निषेध किया गया है । यह इन साधनोंके स्वरूपका परिचय होना ही वैदिक विधि–निषेधोंका फल है, जो कि **'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः'** इस व्याससूत्रके द्वारा प्रमाणित होता है ।

सूत्रका अर्थ इस प्रकार है—

(**कृतप्रयत्नापेक्षः**) अमुक देश कालमें अमुक २ साधनोंके द्वारा सुख–दुःख–लाभ हो, ऐसी मर्यादाको नियत करनेका जो क्रीडाके लिये प्रयत्न किया गया है उसकी अपेक्षा करता हुआ,–अर्थात् उसके अनुसार–परमात्मा सुख दुःख देता है, विना ही कर्म किये, अपनी इच्छासे स्वतन्त्र नहीं देता, क्योंकि (**विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः**) वेदमें जिनका विधान किया है और जिनका निषेध किया है वे व्यर्थ न हों ।

यद्यपि इन साधनोंमें जीवोंकी प्रवृत्ति–निवृत्तियां ब्रह्मकी इच्छाके अनुसार ही होती हैं, परन्तु जीव ब्रह्मांश होनेसे ब्रह्म–स्वरूप हैं इसलिये वैषम्य नैर्घृण्य दोष ब्रह्मको स्पर्श नहीं कर सकते । यह सविस्तर प्रथम सिद्ध होचुका है ।

जीव ब्रह्मका अंश है तो सर्वज्ञ क्यों नहीं ?

(१९–२०) **पूर्वपक्षी**—जीव ब्रह्मांश या ब्रह्मस्वरूप नहीं होसकते, क्योंकि जीव अल्पज्ञ, अज्ञ, भ्रान्त हैं और ब्रह्म सर्वज्ञ है । किसी प्रकार यह संभव है कि जैसे अग्नि

और वस्तुतः दयालुता–भङ्ग अस्वतन्त्र जीवोंके ही लिये दोष–रूप होसकता है, ईश्वरके लिये नहीं होसकता । लोकमें देखते हैं कि साधारण मनुष्य यदि किसीके विषयमें निर्दयताका व्यवहार करे तो उसे सभी निर्दय कहते हैं, परन्तु राजा साधारण अपराधसे रुष्ट होकर सेवकका सर्वस्व छीन लेते हैं और उन्हें कोई निर्दय नहीं कहता ! जब कि लौकिक ईश्वरोंके ही विषयमें यह दशा है तो फिर संपूर्ण ब्रह्माण्डोंका सर्वतन्त्र–स्वतन्त्र सम्राट् ईश्वर यदि अपने सहज सेवक जीवकी परिस्थितिमें कुछ परिवर्तन कर दे तो उसे कोई कैसे निर्दय कह सकता है । अतः हम इस दोषके भयसे जड–जीवान्तर्यामियोंके स्वरूप–भेदको अनादि नहीं मान सकते ।

(प्रापञ्चिक विचित्रतामें धर्माधर्म ही कारण हैं या ईश्वरकी इच्छा)

पूर्वपक्षी—प्रपञ्चकी विचित्रता करनेमें और जीवोंको सुख दुःख देनेमें ईश्वर जीवोंके कर्मोंकी अपेक्षा नहीं करता है यह कथन तुह्मारे मतके अनुकूल नहीं है, क्योंकि तुम अपने मतमें व्याससूत्रोंके अनुसार संपूर्ण निर्णय करते हो और व्याससूत्रसे यह स्पष्ट ही प्रमाणित होता है कि परमात्मा धर्माधर्मानुसार ही जीवोंको सुख दुःख आदि देता है ।

व्याससूत्र यह है—

‘कृत प्रयत्नापेक्षस्तु विहित–प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः’

अर्थ—सुखका कारण धर्म और दुःखका कारण अधर्म है यह वेदकी उक्ति व्यर्थ न हो, इसलिये परमात्मा जीवोंको धर्माधर्मानुसार ही सुख दुःख आदि देता है ।

इसीसे संपूर्ण प्रपञ्चकी रचना परमात्मा धर्माधर्मानुसार करता है यह भी सिद्ध होजाता है, क्योंकि सुख–दुःखोंकी प्राप्तिका साधन प्रपञ्च ही है ।

और कर्मोंकी अपेक्षा करनेसे ईश्वर अनीश्वर भी नहीं होसकता । लोकमें देखते हैं कि स्वामी अपने सेवकको सेवाके अनुसार वेतन देता है, परन्तु स्वामीको कोई भी असमर्थ नहीं कहता । अतः जैसा लोकमें देखते हैं वैसा ईश्वरके लिये भी मानना चाहिये ।

(२२) **सिद्धान्ती—“कृतप्रयत्नापेक्षस्तु”** इस सूत्रका अर्थ तुम कहते हो वैसा नहीं है, क्योंकि प्रयत्न–शब्दका अर्थ धर्माधर्म नहीं होसकता, प्रयत्न–शब्दका लोकमें सर्वत्र शारीरिक व्यापारका कारण जो आत्म–धर्म है, जिसे अनेक शास्त्रकार कृति कहते हैं, वही अर्थ है । और गौण रीतिसे ‘प्रयत्न’ शब्दका धर्माधर्म अर्थ मान भी लिया जाय तो ‘**विहित–प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः**’ यहाँ “विहित” “प्रतिषिद्ध” शब्दोंके प्रयोग करनेका स्वारस्य नष्ट होजाता है, क्योंकि विधि–निषेध शब्दोंका परित्याग कर “विहित” “प्रतिषिद्ध” इन अधिकाक्षर शब्दोंका प्रयोग धर्माधर्मोंका बोध करानेके ही

प्रमाणित करता है, क्योंकि इसका अर्थ है 'जिसमें ज्ञान हो,' यदि केवल ब्रह्म ही ज्ञानरूप होता और ज्ञान ब्रह्मका धर्म न होता तो 'जो ज्ञान है' यही कहना चाहिये था। अतः ब्रह्ममें स्वरूपात्मक ज्ञानके अतिरिक्त धर्मात्मक ज्ञानको भी मानना आवश्यक है। यद्यपि ब्रह्मके धर्म ब्रह्म–स्वरूप ही हैं, क्योंकि अद्वैत श्रुतिके अनुरोधसे ब्रह्मसे अतिरिक्त किसीको बता ही नहीं सकते, तथाऽपि उक्त तेजो–दृष्टान्तके अनुसार ज्ञानकी धर्म–रूपसे और धर्मि–रूपसे– दोनों भी तरहसे–प्रतीति होती है, इसीलिये श्रुतियाँ भी दोनों प्रकारसे वर्णन करती हैं। अतः श्रुतियोंके अनुसार धर्मरूप ज्ञानको स्वीकार करना उचित ही है। इसी धर्म–रूप ज्ञानका ब्रह्मने जीवमें तिरोभाव कर दिया है, अत एव संशय, सन्देह, भ्रम आदि मिथ्या ज्ञान जीवोंमें प्रतीत होते हैं।

ईश्वरेच्छासे ही जीवोंके ऐश्वर्य वीर्य इत्यादि अन्य धर्म भी तिरोहित हैं।

ज्ञानके अतिरिक्त और भी पाँच धर्मोंका ब्रह्ममें 'भगवान्' शब्दके द्वारा बोध कराया गया है। वे ये हैं–ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री और वैराग्य। ज्ञानके समान ये धर्म भी जीवमें तिरोहित हैं। ऐश्वर्यका तिरोभाव होनेसे जीव दीन, पराधीन और असमर्थ है। वीर्यका (पराक्रमका) तिरोभाव होनेसे सब दुःखोंको सहन कर लेता है। यशका तिरोभाव होनेसे नितान्त हीन है। श्रीका तिरोभाव होनेसे जन्म, मरण आदि अनेक आपत्तियोंका अनुभव करता है। इस आशयका भगवान् वेदव्यासने **'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ'** (अर्थ–ईश्वरने जीवोंमें ऐश्वर्य यश आदि धर्मोंका तिरोभाव कर दिया है इसीलिये इनका संसारमें बन्धन है और इनमें मिथ्या–ज्ञान, अज्ञान आदि विपरीत धर्म प्रतीत होते हैं) इस सूत्रके द्वारा उपदेश दिया है। अतः ब्रह्म और जीव जो अत्यन्त विलक्षण और भिन्न प्रतीत होते हैं, इसमें कारण यही धर्मोंका तिरोभाव है, वस्तुतः जीव अग्नि–विस्फुलिङ्गोंके समान ब्रह्मांश होनेसे ब्रह्म ही हैं।

ब्रह्मके जीव निजांश हैं।

(२३) और **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' 'ममैवांशो जीवलोके'** इत्यादि श्रुति–स्मृतियोंमें, जैसे "चन्द्र–मण्डलका शतांश गुरु–मण्डल है" इस लौकिक वाक्यमें अंश शब्दका गौण अर्थ स्वीकार किया जाता है, ऐसा अंश शब्दका गौण अर्थ स्वीकार करना, अथवा जैसे पुरुषके कर, चरण आदि निजांश हैं और पुत्र भिन्नांश है, इस प्रकार ब्रह्मके मत्स्य, वाराह आदि अवतारोंको निजांश और जीवोंको भिन्नांश मानना भगवान् वेदव्यासको संमत नहीं है, जो कि उनके इन दो सूत्रोंके द्वारा प्रकट होता है—

"**प्रकाशादिवन्नैवं परः**" इति व्याससूत्रम्।

भावार्थ—जैसे सूर्य और अग्निके तेजसे अन्य लोगोंको कष्ट पहुँचता है, परन्तु उनको

स्वयं अपने तेजसे कुछ कष्ट नहीं होता, क्योंकि तेज इनके स्वरूपसे भिन्न नही है। इसी प्रकार ब्रह्ममें भी जीवोंके सुख–दुखोंका स्पर्श नहीं होता, क्योंकि ब्रह्मसे कोई भी वस्तु भिन्न नहीं है और न कहीं भी ब्रह्मकी भेद–बुद्धि है। अविद्या–शक्तिके प्रभावसे जीवोंकी सर्वत्र भेद–बुद्धि–है, इसलिये इनको सुख–दुःखोंका अनुभव होता है।

"अनुज्ञा–परिहारौ देह–सम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्" इति व्याससूत्रम्।

भावार्थ—जैसे चाण्डाल–घट और स्मशानके साथ जल और अग्निका जो अंश सम्बद्ध है वही अंश उनके सम्बन्धसे अपवित्र और अग्राह्य समझा जाता है, जगत्‌के सभी जल अग्नि अपवित्र अग्राह्य नहीं समझे जाते, इसी प्रकार शरीरोंके साथ केवल ब्रह्मांश जीवोंका अध्यासात्मक सम्बन्ध है, इसलिये शारीरिक उच्च–नीच–भावके कारण इहींमें शुद्धि अशुद्धि, ग्राह्यता, अग्राह्यताका विचार होसकता है, ब्रह्ममें नहीं होसकता।

इन दो सूत्रोंके द्वारा जो यह परिहार किया गया है कि जीवोंके सुख–दुःखोंका और गुण–दोषोंका ब्रह्ममें स्पर्श नहीं होसकता, यह तभी संभव है जब कि जीव ब्रह्मके अंश माने जाँय। लोकमें देखा जाता है कि मनुष्य–शरीरके किसी अंशमें–चोट लग जानेसे संपूर्ण शरीरमें वेदना उत्पन्न होजाती है, परन्तु उस मनुष्य–शरीरसे भिन्न किसी अन्य मनुष्य–प्रभृति प्राणीके शरीरमें अथवा वृक्ष, पाषाण आदि किसी अन्यमें चोट लगनेसे उसमें वेदना उत्पन्न नहीं होती। यदि ब्रह्म और जीव पिता–पुत्रोंके समान या चन्द्रमण्डल और गुरु मण्डलके समान सर्वथा भिन्न होते तो 'जीवोंके सुख–दुःख और गुणदोषोंका ब्रह्ममें स्पर्श होजायगा' इस शङ्काका जन्म होना ही असम्भव था, परिहारकी तो बात ही क्या ? । अतः परिहार करनेवाले इन सूत्रोंसे यह प्रमाणित होता है कि जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं. किन्तु ब्रह्मका अंश ही है।

(१८) **पूर्वपक्षी**—अन्तर्यामि–ब्राह्मणमें जीवोंको ब्रह्मका शरीर कहा है और शरीर, शरीरीका भेद लोकमें देखते हैं, इसलिये ब्रह्म और जीवका भेद ही मानना चाहिये। जो श्रुतियां जीवको अंश कहती हैं उनका भी तात्पर्य यही है कि जैसे पुरुषके अपने करचरणादि अंश हैं, ऐसे ही जीव ब्रह्म–शरीर होनेसे ब्रह्मांश है।

सिद्धान्ती—अन्तर्यामि–ब्राह्मणमें जैसे जीवको शरीर कहा है, ऐसे ही पृथिवी आदि जड पदार्थोंको भी कहा हैं। अतः ब्रह्म–शरीर होनेसे यदि श्रुतियाँ जीवको ब्रह्मांश कहती हैं तो जडको भी कहना चाहिये, क्योंकि यह भी वैसा ही है। और **"एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय"** इस श्रुतिके अनुरोधसे ब्रह्मके शरीरको ब्रह्मसे भिन्न मान भी नहीं सकते, क्योंकि सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्म अपनेसे भिन्न जड–जीव शरीरोंके विद्यमान रहते हुए "मैं एक हूँ" यह नहीं कह सकता। यद्यपि शरीरी मनुष्य अन्य

प्राणियोंके अभावमें "मैं अकेला हूं" यह कहते हैं, परन्तु यह जीवोंके लिये उचित है, क्योंकि ये अज्ञानवश देहोंको अपनेसे अभिन्न समझते हैं, किन्तु ईश्वर ऐसा नहीं कह सकता, क्योंकि वह भिन्नको अभिन्न (अपना आत्मा) नहीं समझता । इसके अतिरिक्त **'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'** (अर्थ—सृष्टिके पूर्व केवल ब्रह्म ही था) **"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"** इत्यादि और भी अनेक श्रुतियां ब्रह्मसे भिन्न वस्तुका निषेध करती हैं, इसलिये जीवको ब्रह्मसे अभिन्न ही मानना चाहिये ।

जीव अणु नहीं हैं ।

(२६) **पूर्वपक्षी—**यदि जीव ब्रह्मसे अभिन्न है तो ब्रह्मके समान व्यापक भी होना चाहिये, क्योंकि अणु और व्यापकका अभेद नहीं होसकता । इसके अतिरिक्त **"स वा एष महानज आत्मा"** (अर्थ यह आत्मा जन्म—रहित और व्यापक है) **'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः'** (अर्थ—आत्मा आकाशके समान नित्य और व्यापक है) **'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः'** (अर्थ—आत्मा नित्य व्यापक और अचल है) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ और स्मृतियां जीवको व्यापक कहती हैं ।

और यौक्तिक—विचारसे भी जीवको अणु मानना अयोग्य मालूम होता है, क्योंकि संपूर्ण शरीरमें व्याप्त जो चैतन्य है यह जीवका गुण है और गुण अपने गुणिके (धर्मिके) सिवा अन्यत्र रहता नहीं, अतः जीवात्मा यदि अणु है तो उसका गुण चैतन्य संपूर्ण शरीरमें कैसे रहता है ?, चैतन्यको भी उतने ही प्रदेशमें रहना चाहिये जितने प्रदेशमें उसका धर्मी आत्मा रहता है ।

और लोकमें ऐसा कोई दृष्टान्त भी नहीं, जिसके द्वारा यह सिद्ध हो कि धर्मीसे अधिक प्रदेशमें धर्म रहता है । पुष्प, अत्तर आदि सौगन्धिक वस्तुओंका जो दूरसे सुगन्ध मालूम होता है उसका भी कारण यही है कि वायुके सहारेसे उक्त सौगन्धिक वस्तुओंके सूक्ष्म अवयव उडकर मनुष्यके नासिका—पर्यन्त पहुंचते हैं । ऐसे ही मनुष्यके शरीरमें घिसे हुए असली मलय—गिरि—चन्दनकी एक बिन्दु किसी स्थानमें लगा देनेसे जो संपूर्ण शरीरमें शीतलता फैल जाती है उसका भी कारण चन्दनके सूक्ष्म अवयवोंका शरीरमें फैलना ही है । मणिप्रभा यद्यपि मणिसे अधिक देशमें रहती है और मणि कठिन होनेसे उसके अवयवोंका वायुके वेगसे फैलना भी संभव नहीं है, परन्तु प्रभा मणिसे उत्पन्न विरलावयव द्रव्यान्तर है, धर्म नहीं है । अतः दृष्टान्त न होनेसे आत्मासे अधिक देशमें उसके धर्म चैतन्यको नहीं मान सकते ।

यद्यपि आत्माको शरीर—परिमाण माननेसे शरीर—व्याप्ति—चैतन्यकी स्थितिका समर्थन होसकता है परन्तु शरीर—परिमाण माननेसे आत्माका नित्यत्व नहीं रहता, क्योंकि

शास्त्र–मर्यादाके अनुसार अणु और व्यापक वस्तुओंको ही नित्य मान सकते हैं, मध्यम परिमाणकी वस्तुको नित्य नहीं मान सकते। तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा अणु माना जाय तो संपूर्ण शरीरमें चैतन्यकी स्थिति नहीं होसकती और मध्यम–परिमाण माना जाय तो आत्मा नित्य नहीं होसकता इसलिये इन दोनोंके समावेशके लिये आत्माको व्यापक ही मानना चाहिये। और जो श्रुतियां जीवात्माको अणु कहती हैं उनका तात्पर्य केवल जीवात्माको दुर्बोध प्रमाणित करना है, इसलिये कोई विरोधकी भी आशङ्का नहीं है।

जीव अणु है।

(२७) **सिद्धान्ती**—व्यापक कहनेवाली श्रुतियां ब्रह्म–निरूपणके प्रसङ्गमें है, इसलिये इनसे ब्रह्म ही व्यापक प्रमाणित होता है, जीव व्यापक प्रमाणित नहीं होते। और अणु कहनेवाली श्रुतियोंका भी तात्पर्य जीवको दुर्बोध प्रमाणित करना नहीं है, किन्तु जीवको अणु कहना ही है। यह सभी इस व्याससूत्रके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है।

"नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्"

अर्थ–जीव अणु है, क्योंकि व्यापक कहनेवाली श्रुतियां ब्रह्मवर्णनके प्रसङ्गमें हैं।

जीवात्मासे अधिक प्रदेशमें चैतन्यकी स्थिति भी व्याससूत्रोंसे दृष्टान्तप्रदर्शन–पूर्वक बहुत ही ठीक प्रमाणित होती है। व्याससूत्र ये हैं—

"व्यतिरेको गन्धवच्च"

अर्थ–जैसे गन्ध अपने धर्मसे अधिक प्रदेशमें रहता है, ऐसे ही हृदयस्थ जीवका चैतन्य अपनेसे अधिक प्रदेशमें–अर्थात् संपूर्ण शरीरमें–रहता है।

"अविरोधश्चन्दनवत्"

अर्थ–जैसे एकदेश–स्थित चन्दन–बिन्दु संपूर्ण शरीरमें शैत्यका प्रसार कर देता है, इसी प्रकार एकदेश–स्थित अणु जीव संपूर्ण शरीरमें चैतन्यका सञ्चार कर देता है।

"गुणाद्वाऽऽलोकवत्"

अर्थ–जैसे एकदेश–स्थित दीप प्रकाशके द्वारा संपूर्ण गृहमें व्याप्त होजाता है, ऐसे ही अणु जीव चैतन्यके द्वारा संपूर्ण शरीरमें व्याप्त होजाता है।

इन सूत्रोंका पूर्वपक्षमें उपयोग मान कर इनके दृष्टान्तोंका जो यौक्तिक विचारसे खण्डन किया है वह भी अयोग्य है, क्योंकि मोगरा, गुलाब, चम्पा आदि पुष्पोंका सुगन्ध ठण्डे समयमें बहुत दूरसे मनुष्योंको मालूम होजाता है। और पुष्पोंके ऐसे शिथिल अवयव नहीं है जो अत्यन्त मन्द वायुसे उड कर दूर चलेजांय। कदाचित् चले भी जांय तो चारों ओर इतने दूर जानके लिये बहुत अवयवोंकी अपेक्षा है। अतः इतने अवयव

उड जानेसे पुष्प ही नष्ट होजाने चाहिये, जैसे कर्पूर नष्ट होजाता है, अथवा पुष्पोंमें छिद्र होजाने चाहिये । और यह भी नहीं कह सकते कि आघ्राण करनेवाले मनुष्योंके पुण्यके प्रभावसे प्रथमके अवयव वायुके द्वारा उड जाते हैं और उनके स्थानमें नवीन अवयव प्रकट होजाते हैं इसलिये पुष्पोंमें छिद्र नहीं होते, क्योंकि अनुमानसे अवयव-पूरक पुण्य-विशेष-कल्पना करनेकी अपेक्षा तो अपने धर्मिसे अधिक प्रदेशमें प्रत्यक्षसे निश्चित हुए गन्ध-धर्मको मानना ही सरल-मार्ग है । और सौगन्धिक वस्तुओंके सूक्ष्म अवयवोंका निकलना सर्वत्र संभव भी नहीं है, व्यापारियोंके अन्तर्गृहमें चर्मपुटसे वेष्टित कस्तूरी डिब्बेमें रक्खी रहती है, अतः उसके सूक्ष्म अवयव निकल कर बाहर किसी प्रकार नहीं आ सकते, तथापि दुकानपर जाते ही मनुष्योंको उसके गन्धका अनुभव होता ही है । ऐसे ही लशुन-स्पर्शके अनन्तर मृत्तिकासे २-३ वार हाथ धोलिये जांय, तथाऽपि लशुनकी दुर्गन्ध दूर नहीं होती । यदि लशुनके अवयव ऐसे चिक्कण हैं कि जहां चिपक जाते हैं वहांसे दूर नहीं होते तो लशुनमें भी ऐसेही दृढ चिपके रहने चाहिये, फिर केवल स्पर्श करनेसे ही हाथमें कैसे लग जाते हैं ? यदि दृढ चिपकनेवाले नहीं हैं तो दो तीन वार मृत्तिका लेकर हाथ धोनेसे दूर क्यों नहीं होते । अतः यही मानना आवश्यक होगा कि लशुनके सूक्ष्मावयव हाथमें संसृष्ट नहीं होते किन्तु लशुनका गन्ध संसृष्ट होता है । और गन्ध अपने धर्मीसे अधिक प्रदेशमें रहता है । अत एव शैत्य, प्रकाश आदि सभी धर्म अपने धर्मीसे अधिक प्रदेशमें रहते हैं यह भी समान-न्यायसे सिद्ध होगया ।

इसीसे यह भी स्वीकार करना आवश्यक है कि **'व्यतिरेको गन्धवच्च' 'गुणाद्वाऽऽलोकवत्'** इत्यादि व्यास-सूत्र पूर्वपक्षप्रदर्शक नहीं है, किन्तु सिद्धान्त-प्रदर्शक हैं और इनमें दिखाये हुए दृष्टान्तोंके अनुसार अणु-स्वरूप जीवात्माओंके भी चैतन्यकी संपूर्ण शरीरमें व्याप्ति रहना अनुचित नहीं है ।

और धर्मीसे अधिक प्रदेशमें धर्मकी स्थिति तो केवल हम ही नहीं मानते, किन्तु नैयायिक भी मानते हैं । नैयायिकोंके मतमें 'समवाय-सम्बन्ध'-नामक एक नित्य धर्म है, जो कि सर्वदा जाति, व्यक्ति आदि दो २ वस्तुओंमें रहता है, परन्तु जब व्यक्तियां नष्ट होजाती हैं तो वह विना धर्मियोंके रहता है, क्योंकि नित्य होनेसे उसका अभाव तो हो नहीं सकता । इसके अतिरिक्त नष्ट होनेवाले द्रव्योंके गुणोंकी भी एक-क्षण-पर्यन्त निराधार-यानी धर्मियोंके विना-स्थिति नैयायिक लोग मानते हैं । अतः जैसे समवाय और ये गुण अपने धर्मियोंके विना रहते हैं, ऐसे ही हृदय-स्थित अणु आत्माका चैतन्य भी अपने धर्मिके विना संपूर्ण शरीरमें रह सकता है ।

(२८) **पूर्वपक्षी**—जैसे अग्नि और अग्निकी उष्णता भिन्न नहीं है, ऐसे ही जीवात्मा और उसका चैतन्य भी भिन्न नहीं है, इसलिये चैतन्य संपूर्ण शरीरमें रहता है और आत्मा केवल हृदयमें ही रहता है यह नहीं मान सकते। और हृदयमें रहता है, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं। अतः आत्माको व्यापक ही मानना चाहिये।

सिद्धान्ती—अग्नि और उष्णता सर्वथा अभिन्न नहीं है। यदि हों तो मणि–मन्त्रोंकी और ओषधियोंकी शक्तिसे जब अग्निकी उष्णता नष्ट होजाती है तब अग्नि भी नष्ट होजाना चाहिये? यदि अग्नि और उसकी उष्णतामें कुछ भेद है तो जैसा भेद इनका है वैसा ही जीव और उसके चैतन्यका भी है। यही **'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य'** इत्यादि श्रुतियोंके आधारपर **'पृथगुपदेशात्'** इस सूत्रके द्वारा भगवान् वेदव्यासने कहा है। और **'अवस्थिति–वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदि हि'** (अर्थ–जैसे चन्दन–बिन्दुके लिये स्थान–विशेष नियत है, इसी प्रकार जीवके लिये भी हृदय स्थान नियत है) इस सूत्रके द्वारा जीवात्माकी हृदयमें स्थिति है यह भी कहा है। इसके अतिरिक्त **'हृदि ह्येष आत्मा' 'स वा एष आत्मा हृदि'** (अर्थ–यह जीवात्मा हृदयमें है) इत्यादि और भी अनेक श्रुतियां हृदयमें जीवात्माकी स्थिति बताती हैं।

(२५–२८–२९) और चन्द्र–लोक स्वर्गलोक आदि प्रदेशोंमें जीवोंका गमन कहनेवाली श्रुतियां स्मृतियां भी तभी सार्थक होसकती हैं जब कि जीव अणु माने जांय, क्योंकि आकाशके समान व्यापक जीव चन्द्र–लोक या स्वर्गलोकमें जा नहीं सकते। और **'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति'** (अर्थ–जीवात्माके निकलनेके बाद प्राण निकलते हैं) यह श्रुति जो जीवात्मा और उसके उपाधि प्राणका पृथक् २ शरीरसे बाहर निर्गमन बताती है यह भी व्यापक आत्माके लिये संभव नहीं है, क्योंकि व्यापक आत्माका प्रथम तो शरीरसे बाहर होना ही असंभव है, फिर भी कदाचित् जैसे घटकी क्रियाका उसके अन्तर्गत आकाशमें आरोप किया जाता है, ऐसे ही प्राणादि उपाधियोंकी क्रियाका आरोप कर जीवात्माका निर्गमन मान भी लिया जाय तो उपाधि निर्गमन पृथक् कहनेसे पुनरुक्ति–दोष आता है, क्योंकि जैसे घटाऽऽकाशकी और घटकी चलन क्रिया भिन्न नहीं है, ऐसे ही जीवकी और उपाधिकी निर्गमन क्रिया भिन्न नहीं है।

और उपाधि निर्गमनके अभिप्रायसे यदि उक्त श्रुति जीवका निर्गमन कहती है तो प्राणोपाधिसे पूर्व जीवका निर्गमन कहना भी व्यर्थ है। अतः इन दोषोंकी निवृत्तिके लिये जीवात्माका भी निर्गमन मानना ही चाहिये और निर्गमनके अनुरोधसे जीवात्माको अणु मानना भी स्वतः–प्राप्त है। और जीव अणु हैं, इसीलिये **'ततो मां**

तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' (अर्थ—भक्तिके द्वारा भगवान्का स्वरूप जान कर भक्त उसमें लीन होजाते हैं) इत्यादि स्मृतियां भी सार्थक होती हैं, क्योंकि मोक्ष—दशामें उपाधि न होनेसे औपाधिक प्रवेश तो संभव नहीं है, इसलिये शुद्ध जीव—स्वरूपका ही प्रवेश मानना आवश्यक है । यदि शुद्ध जीव—स्वरूप व्यापक होगा तो प्रविष्ट कैसे होगा ? । अतः जीवकों अणु ही मानना चाहिये ।

(२५—२६) **पूर्वपक्षी**—यदि प्रवेश—निरूपण जीवात्माकों अणु प्रमाणित करता है तो ब्रह्मको भी मध्यम—परिमाण प्रमाणित क्यों नहीं करता, क्योंकि आकाशके समान व्यापक वस्तुसे कोई वस्तु बाहर रहती ही नहीं जो उसमें प्रविष्ट हो, और अणु इतनी छोटी वस्तु होती है कि जिसके अन्तर्गत प्रवेश करने योग्य अवकाश रहता ही नहीं । अतः तुम्हारे कथनानुसार प्रवेश करने योग्य ब्रह्म मध्यम—परिमाण ही होसकता है । यदि श्रुतियां ब्रह्मको व्यापक कहती हैं इसलिये ब्रह्मको व्यापक मानते हो तो व्यापकताके अनुरोधसे इस प्रवेशको गौण मानो । और जैसे प्रमाण ब्रह्मकों व्यापक कहते हैं, ऐसे ही जीवको भी व्यापक कहते हैं । और सभी व्यापक कहनेवाले प्रमाण ब्रह्म—निरूपणके ही प्रसङ्गमें नहीं है । गीताके द्वितीयाध्यायमें अर्जुनको उपदेश देते हुए जो भगवान्ने '**नित्यः सर्व—गतः स्थाणुः**' इस श्लोकके द्वारा आत्माकी व्यापकताका वर्णन किया है इसमें ब्रह्म—प्रकरणका कोई सम्बन्ध नहीं है । इसके अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक प्रमाण हैं जो जीवको व्यापक कहते हैं । अतः प्रमाणोंके अनुरोधसे यदि ब्रह्मको व्यापक मानना है तो जीवको भी मानना चाहिये ।

(१७—२४—२८) **सिद्धान्ती**—जो श्रुतियां और स्मृतियां जीव—प्रकरणमें हैं और जीवको व्यापक कहती हैं उनका तात्पर्य जीवमें ब्रह्म—धर्मोंको बता कर उसकों ब्रह्मांश प्रमाणित करना है, वस्तुतः व्यापक कहना नहीं है । यह "**अंशो नाना—व्यपदेशात्**" "**तद्गुण—सारत्वात्तु तद्व्यपदेशः**" (अर्थ—जड—पदार्थोंसे विलक्षणता दिखानेवाले जीवमें विद्यमान सभी गुण ब्रह्मके हैं, इसलिये श्रुतियां और स्मृतियां जीवको ब्रह्म कहती हैं) इन दो व्यास—सूत्रोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है ।

(अणु जीवका व्यापक ब्रह्ममें प्रविष्ट होना अयोग्य नहीं)

और अणु जीवका व्यापक ब्रह्ममें प्रवेश तो '**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति**' (अर्थ—ब्रह्मभाव होनेके अनन्तर जीव ब्रह्ममें लीन होता है) इत्यादि श्रुतियां कहती हैं इसलिये स्वीकार करना चाहिये । और जीव—प्रवेश यदि गौण होता तो भगवान् वेदव्यास किसी सूत्रके द्वारा इस आशयको प्रकट करते ?, परन्तु ऐसा न कर इससे विपरीत प्रवेश—बोधक वचनोंको और मुख्यार्थ प्रमाणित किया है, जो कि इस सूत्रसे स्पष्ट है—

(३५) और ऐसी विरुद्ध–धर्माधारताका वर्णन केवल यहीं नहीं है, किन्तु श्रुतियोंमें भी है। भगवान् श्रीकृष्णने मृत्स्ना–भक्षणके प्रसङ्गमें जो विश्वमें रहते हुए भी अपनेको विश्वका आधार बताया है इसका वर्णन **'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीमन्तरो यमयति'** (अर्थ–जो पृथिवीमें रहता हुआ भी पृथिवीसे सर्वथा अस्पृष्ट है और पृथिवीका नियमन करता है) यह श्रुति करती है। और दामोदर–लीलामें जो आपने अपने परिच्छिन्न स्वरूपको व्यापक प्रमाणित किया है इसका समर्थन मूर्द्ध–चिबुकान्तरस्थ (मस्तक और ठुड्डीके मध्यमें विद्यमान) प्रादेशमात्र आत्माको व्यापक बताती हुई **'यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानम्'** (अर्थ–जो इस प्रादेशमात्र और परिमाण–रहित आत्माको) यह श्रुति करती है।

इसके अर्थका निर्णय करते हुए भगवान् वेदव्यासने भी **'साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः'** इत्यादि सूत्रोंके द्वारा अन्य महर्षियोंके मतोंको दिखा कर अन्तमें **'आमनन्ति चैनमस्मिन्'** इस सूत्रसे यह अपना सिद्धान्त बताया कि **"य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा योऽविमुक्ते च प्रतिष्ठितः"** इस श्रुतिमें 'अनन्त'–पदाभिधेय व्यापक परमात्माकी सङ्कुचित स्थानमें स्थिति बताई है, इससे निश्चित होता है कि ब्रह्मके व्यापकत्व और परिच्छेदका कोई विरोध नहीं हैं। अतः **'यस्त्वेतमेव'** इस श्रुतिमें भी व्यापक ब्रह्मकी प्रादेशमात्रताको वास्तविक ही मानना चाहिये।

इस व्यासोक्त निर्णयके अनुसार **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'** (अर्थ–ब्रह्म कर-चरण रहित है, तथापि चलता है ग्रहण करता है) **'तदेजति तन्नैजति'** इत्यादि अन्य श्रुतियोंमें भी विरुद्ध धर्मोंके वर्णनको यथार्थ ही स्वीकार करना उचित है।

(३६–३९) और दृष्टान्त न होनेसे ब्रह्म विरुद्ध धर्माधार सिद्ध नहीं होता यह कथन तो केवल बालिश–बिभीषिका मात्र है, क्योंकि गृहसे निकलकर प्राङ्गणमें प्रवेश करनेवाले एक ही पुरुषमें परस्पर–विरुद्ध निष्क्रमणत्व प्रवेशत्व इन दोनों धर्मोंका अनुभव लोकमें देखा जाता है। और शब्दैकगम्य अलौकिक वस्तुओंकी सिद्धिमें दृष्टान्तका न होना आपत्ति–जनक हो भी नहीं सकता। और तुम हमें दृष्टान्त पूछते हो, परन्तु तुम्हारे निर्विशेष ब्रह्मकी सिद्धिमें ही कोई दृष्टान्त नहीं हैं, क्योंकि सत्ता, समवाय आदि सभी वस्तुओमें कालाधारत्व, सखण्डोपाधि, अखण्डोपाधि आदि धर्मोंमेंसे किसी न किसी धर्मका सम्बन्ध अवश्य रहता है। अतः जैसे विना ही दृष्टान्त तुम्हारा ब्रह्म निर्विशेष सिद्ध होजाता है, ऐसे ही हमारे मतमें विरुद्ध धर्माधार भी सिद्ध होजाता है।

पूर्वपक्षी—विरुद्ध–धर्माऽऽधारताके लिये जो पुरुष–दृष्टान्त दिखाया है यह सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि गृहसे निकलना और प्राङ्गणमें प्रवेश करना ये दो क्रिया नहीं हैं,

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ।

अर्थ–(अस्मिन्) इस ब्रह्ममें (अस्य) जीवका (तद्योगं) ब्रह्म–भाव होनेके अनन्तर लय (शास्ति) श्रुति कहती है ।

(२५) और वस्तुतः व्यापक ब्रह्ममें जीवका प्रवेश मानना आपत्ति–जनक भी नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म विरुद्ध–धर्माधार है–उसमें व्यापकत्व अव्यापकत्व आदि परस्पर विरुद्ध सभी धर्म रहते हैं;–अत एव **'समो मशकेन समो नागेन'** इस श्रुतिमें ब्रह्मको मशकके समान भी कहा है और नागके समान भी कहा है । और **'सर्वतः पाणिपादान्तम्'** यह श्रुति भी व्यापक ब्रह्मके सर्वत्र कर–चरण और परिच्छेद बताती है । अतः प्रवेश कहनेवाली श्रुतिके अनुरोधसे ऐसे विलक्षण ब्रह्म–स्वरूपके बाह्याभ्यन्तर प्रदेश मान लेना भी अयोग्य नहीं है ।

ब्रह्मभाव शब्दका अर्थ जीवके आनन्द ऐश्वर्य इत्यादि धर्मोंका प्रकट होना है, अत्यन्ताभेद नहीं ।

(२४) **पूर्वपक्षी—"अस्मिन्नस्य"** इस व्याससूत्रसे जो ब्रह्म–भावके अनन्तर जीवका ब्रह्ममें लय बताया है यह सर्वथा अयोग्य है, क्योंकि जीव स्वयं ब्रह्म ही होगया तो फिर और शेष कौन ब्रह्म रहा जिसमें वह लीन होगा ? वेदान्तमें सर्वत्र एक ही ब्रह्मका निरूपण है, दो चार ब्रह्मस्वरूपोंका तो है ही नहीं ।

और ब्रह्ममें लीन होनेके अनन्तर जीव ब्रह्मसे भिन्न रहता है या अभिन्न ? । यदि भिन्न रहता है तो यह **'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्'** इस श्रुतिसे विरुद्ध है, क्योंकि यह श्रुति मोक्ष–दशामें भेदका निषेध करती है । और अग्नि–विस्फुलिङ्ग दृष्टान्तसे भी प्रतिकूल है, क्योंकि विस्फुलिङ्गका अग्निमें प्रवेश होनेके अनन्तर भेद नहीं रहता । यदि अभिन्न रहता है तो जीवका अणुत्व अवास्तविक प्रमाणित होगया, क्योंकि अणुत्वके रहते हुए वास्तविक अभेद नहीं होसकता, इसलिये अणुत्वका मोक्ष–दशामें अभाव मानना आवश्यक है और अभाव उसीका होसकता है जो कि अवास्तविक हो ।

और घटके नष्ट होनेसे जैसे घटाऽऽकाशका महाकाशमें लय होता है, ऐसे उपाधि–नाशसे जीवका ब्रह्ममें लय माना जाय तब तो जीव वस्तुतः ब्रह्म–स्वरूप ही है इसलिये उसका ब्रह्मके साथ वास्तविक अभेद मान लेनेमें भी जीव–स्वरूप–नाशकी आपत्ति नहीं है, परन्तु विस्फुलिङ्गके समान जीवको अंश मान कर मोक्ष दशामें वास्तविक अभेद मान लेनेसे तो जीव–स्वरूप–नाशकी भी आपत्ति हैं । अतः जीवका और ब्रह्मका भेद हमारे मतके अनुसार औपाधिक ही मानना चाहिये ।

सिद्धान्ती—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इस श्रुतिमें 'ब्रह्मैव सन्' इतने अंशका तात्पर्य है "शास्त्रोक्त साधनोंके अनुष्ठानसे प्रसन्न हुए भगवान्‌के अनुग्रहसे जीवके आनन्द, ऐश्वर्य आदि धर्मोंका प्रकट होना।" इसीका प्रथम हमने 'ब्रह्म–भाव' शब्दसे परिचय कराया है। और 'ब्रह्माप्येति' इसका अर्थ है "जीवका ब्रह्ममें लय होना।" अतः दो ब्रह्म स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

और मोक्ष–दशामें ब्रह्ममें लीन होनेके अनन्तर जीव ब्रह्मसे सर्वथा अभिन्न भी नहीं होता और भिन्न भी नहीं रहता। इसका स्वरूप **'स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त'** यह श्रुति 'जल–लवण' दृष्टान्तके द्वारा बताती है। जैसे लवण जलमें डाल दिया जाय तो जलमें ऐसा घुल जाता है कि उसका जलसे कुछ भी भेद नहीं मालूम होता, ऐसे ही जीवका ब्रह्ममें लय होनेके अनन्तर भेद नहीं मालूम होता, परन्तु लवणका जलके साथ अत्यन्त अभेद नहीं होता है, क्योंकि अत्यन्त अभेद तभी होसकता है जब कि लवण अपनी क्षारताका परिचय जलमें न दे, अथवा जल अपनी तरलताका त्याग कर तत्काल ही लवणका स्वरूप धारण कर ले। अतः जैसे लवण और जलका अत्यन्त अभेद नहीं होता है, ऐसे ही जीव और ब्रह्मका भी नहीं होता। इस आशयका स्पष्टीकरण **'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'** यह श्रुति, तथा **'गति–सामान्यात्'** यह सूत्र बहुत अच्छा करते हैं। यदि मोक्ष–दशामें जीव ब्रह्मके सदृश होजाता है इतना ही श्रुतिका आशय होता तो केवल 'साम्यमुपैति' (अर्थ–ब्रह्मकी समानताको प्राप्त करता है) इतना ही कथन पर्याप्त था, अधिक 'परमम्' इस शब्दके प्रयोग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। यदि 'परमं साम्यम्' (अर्थ–अत्यन्त समानता यानी अभेद) इन दोनो शब्दोंके द्वारा जीवका ब्रह्मके साथ अत्यन्त अभेद कहना होता तो इसके अर्थका निर्णय करनेवाले भगवान् वेदव्यास सूत्रमें 'सामान्य' शब्दके स्थान पर 'ऐक्य' या 'अभेद' शब्द का ही प्रयोग करते, जिससे तात्पर्य समझनेमें सरलता होती। अतः इन दोनोंके सामञ्जस्यके लिये स्वल्प–भेद–मात्रा–संवलित अभेदका ही स्वीकार करना उचित है।

और मोक्ष–दशामें जब जीवोंके आनन्द ऐश्वर्य आदि धर्म प्रकट होजाते हैं, तब ब्रह्मके समान जीव भी विरुद्ध–धर्माधार रहते हैं। जैसे यशोदाके गोदमें बैठे हुए श्रीकृष्णने छोटेसे मुखारविन्दमें त्रैलोक्यकी प्रतीति कराकर अपने आत्माको संपूर्ण–जगदाधर और व्यापक प्रमाणित कर दिया था, इसी प्रकार मोक्ष–दशामें जीव अणु रहते हुए भी व्यापकका कार्य कर सकते हैं। अतः उस समय इनको व्यापक माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

और जीवोंका अणुत्व सार्वदिक है इसीलिये मोक्ष–दशामें लीन हुए भी जीव ब्रह्मके अधिक अनुग्रहसे अपने अणु–स्वरूपसे पुनः प्रकट होकर लीला–देह धारण करते हैं और ब्रह्मके साथ विहार करते हैं। यदि तुह्मारे मतके अनुसार घटाऽऽकाश–महाऽऽकाशोंके सदृश जीवोंका ब्रह्मके साथ अत्यन्त अभेद होता तो यह सर्वथा असम्भव था। अतः अग्नि–विस्फुलिङ्गोंके समान जीवोंका ब्रह्मके साथ तादात्म्य मानना ही ठीक है और विस्फुलिङ्ग भी अग्निमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर सर्वथा अभिन्न नहीं होते, किन्तु अभेद–प्रतीतिमात्र है इसलिये दृष्टान्तका भी कोई विरोध नहीं है।

जीवोंका ब्रह्ममें लय होनेके अनन्तर पुनः निर्गमन।

पूर्वपक्षी—यह मुक्त पुरुषोंका अपने स्वरूपसे पुनः प्रकट होकर देह–धारण करना किसी भी शास्त्र–दृष्टि पुरुषको माननीय नहीं होसकता, क्योंकि उनकी अनेक–जन्म–संचित सभी कर्म–वासना ज्ञानाग्निसे दग्ध होगई हैं और विना कर्म–वासनाओंके शरीर मिल नहीं सकते।

इसके अतिरिक्त जीवात्माओंका देहके साथ अध्यासके सिवा और कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता और मुक्त पुरुषोंको यदि पुनः अध्यास होगया तो इनके संसारी होनेमें कुछ शेष ही न रहा। अत एव "मुक्त पुरुष लौट कर पुनः संसारमें नहीं आते" इस अर्थको कहनेवाले **'न स पुनरावर्तते' 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते'** इत्यादि सभी प्रमाण–वचनोंका विरोध है।

सिद्धान्ती—मुक्त पुरुषोंको देह–प्राप्ति, कर्म या वासनाओंके द्वारा सांसारिक–सुख दुःख भोगके लिये नहीं होती, किन्तु भगवान्के आत्यन्तिक अनुग्रहसे भगवान्के साथ विहार करनेके लिये होती है। और उनका देहके साथ सम्बन्ध भी मिथ्या–ज्ञान–स्वरूप, जिसे तुम अध्यास कहते हो वह नहीं हैं, किन्तु सर्वात्म–भाव–मूलक है, अतः मुक्त–पुरुषोंका यह ऐसा लीला–देह धारण करना संसारी होना नहीं है। अत एव **'न स पुनरावर्तते'** (अर्थ–मुक्त हुआ जीव लौट कर पुनः संसारमें नहीं आता) इत्यादि प्रमाणोंका भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ये अहन्ता–ममतात्मक संसारके सम्बन्धका निषेध करते हैं, लीलादेह–धारणका निषेध नहीं करते।

और भगवान् वेदव्यासने **'मुक्तोपसृप्य–व्यपदेशात्'** इस सूत्रके द्वारा स्पष्ट ही कहा है कि मुक्त पुरुष लीला–देह धारण कर सेवा विहारके लिये भगवान्के पास रहते हैं। और इसी अर्थका अनुवाद **'मुक्ता अपि लीला–विग्रहं कृत्वा भजन्ते'** यह प्राचीन आचार्योंने किया है। अतः मुक्तपुरुषोंका लीला–देहके साथ सम्बन्ध माननेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं होसकती।

(मोक्षका स्वरूप और साधन)

यद्यपि भगवान्के अनुग्रहकी कर्म–मार्ग योग–मार्ग आदि सभी मार्गोंमें अपेक्षा है, परन्तु पुष्टिमार्ग तो केवल अनुग्रहैक–साध्य है । इस पुष्टिमार्गमें जिन जीवोंका अङ्गीकार होता है उन्हींको लीला–देह तथा भगवान्के समीप निवास करनेकी योग्यताका लाभ होता है । और जिन जीवोंका भगवान् मर्यादा–मार्गमें अङ्गीकार करते हैं, उनका केवल ब्रह्म–भावके अनन्तर अक्षर–ब्रह्ममें प्रवेशमात्र होता है, पुनः आविर्भाव नहीं होता । परन्तु जीवोंको भगवान्ने अपनी सेवाके लिये प्रकट किया है, अतः भगवान्की सेवा करना यह तो सभी जीवोंका धर्म है और सेवासे ही सब प्रकारके पुरुषार्थोंका लाभ होता है ।

जीव भगवान्के दास हैं और भगवान् उनके स्वामी हैं, जीव नियम्य हैं और भगवान् नियामक हैं । यह जीव और ब्रह्मका तारतम्य सांसारिक–दशामें ही नहीं, किन्तु मोक्ष–दशामें भी रहता है । अतः इन सब विषयोंकी उपपत्तिके लिये जीवका स्वरूप अग्नि–विस्फुलिङ्ग–दृष्टान्तके अनुसार जैसा प्रथम बताया है वैसा ही मानना चाहिये ।

अविद्योपाधि–युक्त ब्रह्मको जीव माननेसे इन सब विषयोंकी उपपत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि जगत्की प्रतीति करानेवाली भावाऽज्ञान–स्वरूपा 'अविद्या'नामिका कोई उपाधि जीवसे सम्बन्ध रखती ही नहीं । और जगत् अविद्यासे प्रतीत नहीं होता इसीलिये मिथ्या नहीं, वास्तविक है । वेद, इस जगत्का कर्ता और उपादान ब्रह्म है यह कहता है, अत: ब्रह्म भी सविशेष है ।

ब्रह्म निर्विशेष है ।

(३०) **पूर्वपक्षी**—ब्रह्म जगत्का कर्ता भी है और उपादान भी है यह किसीको माननीय नहीं होसकता, क्योंकि लोकमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो दृष्टान्त–रूपसे इसका समर्थन कर सके । लोकमें तन्तुवाय, कुम्भकार आदि जितने कारण दृष्टि–गोचर होते हैं वे सभी ऐसे हैं कि जो किसीके कर्ता हैं तो किसीके उपादान हैं, परन्तु एक ही वस्तुका कर्ता और उपादान कोई भी नहीं है । इसके अतिरिक्त जगत्में काम, क्रोध आदि अनेक दुष्ट पदार्थ हैं, यदि ब्रह्म उपादान माना जाय तो जैसे घट मृत्तिका–स्वरूप है ऐसे इनको भी ब्रह्म–स्वरूपमानना आवश्यक होगा; और ऐसा मान नहीं सकते, क्योंकि ब्रह्म सर्वथा निर्दोष है । अतः ब्रह्मको केवल कर्ता ही मानना चाहिये, उपादान मानना योग्य नहीं ।

ब्रह्म सविशेष है ।

सिद्धान्ती—जैसे मकडी अपने ही भीतरसे तन्तु निकाल कर जाला बना देती है,

ऐसे ही ब्रह्म अपने स्वरूपसे इस प्रपञ्चकी रचना करता है। इसी आशयको **'तदात्मानꣳस्वयमकुरुत'** (अर्थ—ब्रह्मने अपने आत्माको जगद्रूपसे परिणत किया) यह श्रुति कहती है। अतः जैसा वेदसे प्रमाणित हो वैसा स्वीकार करना चाहिये, वेदोक्त अर्थमें तर्कको अवकाश नहीं मिल सकता। और सांसारिक—दृष्टिसे जो प्रपञ्चकी वस्तुओंमें दोष प्रतीत होते हैं ये अवास्तविक हैं, इसलिये जगत्को ब्रह्मात्मक माननेमें बाधक नहीं होसकते।

(अविकृत परिणाम)

यद्यपि लोकमें दधि, दुग्ध आदि वस्तुओंका परिणाम (रूपान्तर) विकार—स्वरूप ही माना जाता है, परन्तु ब्रह्मके प्रपञ्च—रूपसे परिणत होनेको विकार नहीं कह सकते, क्योंकि **'अविनाशी वाऽरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा'** (यह आत्मा और इसके धर्म अविनाशी हैं) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ ब्रह्मको अविकारी कहती हैं। और ब्रह्म सर्वशक्तिमान् अद्भुत—कर्मा और अलौकिक—स्वरूप है, इसलिये इसकी लौकिक—पदार्थोंके साथ तुलना हो भी नहीं सकती। अत एव **'श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्'** इस सूत्रसे भगवान् वेदव्यासने भी यही कहा कि ब्रह्मबोधिका श्रुतियोंके अर्थ—निर्णयमें लौकिक—दृष्टान्तके अनुग्रहकी कोई अपेक्षा नहीं है, जैसा श्रुति कहती है वैसा स्वीकार करना चाहिये। इसीसे यह भी सिद्ध होजाता है कि **'तदेजति तन्नैजति'** (अर्थ—वह ब्रह्म इस समय चल भी है और स्थिर भी है) **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** (अर्थ—वह ब्रह्म छोटेसे छोटा और बडेसे बडा है) इत्यादि परस्पर विरुद्ध धर्मोंका निरूपण करनेवाले प्रमाणोंकी भी विरोध—परिहारके लिये नई व्यवस्था करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप ही ऐसा आश्चर्यमय है कि परस्पर विरुद्ध सभी धर्मोंका उसमें समावेश होजाता है।

(ब्रह्म सर्व-धर्म-(सर्वगुण) शून्य है)

(३१) **पूर्वपक्षी**—अलौकिकता और आश्चर्यमयताके लिये ब्रह्ममें प्रापञ्चिक पदार्थोंकी अपेक्षा उत्कृष्टता मान लेना ही पर्याप्त है, इसके लिये परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी सत्ता माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि श्रुति परस्पर विरुद्ध जैसा कुछ कह दे वह सभी अविकल स्वीकार करने योग्य होता तो भगवान् वेदव्यास उत्तर—मीमांसाके द्वारा सब श्रुतियोंकी व्यवस्था न करते। जब कि उन्होंने व्यवस्थाकी है तो अपने चित्तानुसार नई व्यवस्थाकी कल्पना न कर सविशेष निर्विशेष कहनेवाली श्रुतियोंके विषयमें भी उसी व्यवस्थाको स्वीकार करना चाहिये। उत्तर—मीमांसामें **'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'** इस सूत्रके द्वारा यह निर्णय किया है कि ब्रह्म रूपवान्—यानी

साकार सविशेष—नहीं है, क्योंकि सविशेष कहनेवाली श्रुतियोंका उपासनामें उपयोग है, और निर्विशेष कहनेवाली श्रुतियोंका तो ब्रह्म—स्वरूप—बोध करानेके अतिरिक्त और कोई उपयोग ही नहीं है, इसलिये ब्रह्म—स्वरूपका ज्ञान करानेमें ये प्रधान हैं । अतः इन्हींके अनुसार ब्रह्म—स्वरूप स्वीकार करना उचित है ।

इसके अतिरिक्त '**स यथा सैन्धव—घनः अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघनः, एवं वाऽरे अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव**' (अर्थ—जैसे लवण बाहर भीतर केवल क्षार—रस—मय है, ऐसे ही ब्रह्म भी बाहर भीतर केवल ज्ञान—स्वरूप है) इस श्रुतिके आधारपर '**आह च तन्मात्रम्**' इस सूत्रके द्वारा ब्रह्मको केवल ज्ञान—स्वरूप बताया है ।

और '**प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः**' इस सूत्रसे भी यही दिखाया कि बृहदारण्यक मूर्तामूर्त—ब्राह्मणमें '**अथात आदेशो नेति नेति**' यह श्रुति पूर्व प्रकरणमें कहे हुए ब्रह्मके मूर्त (पृथिवीके समान दृश्य) और अमूर्त (वायुके समान अदृश्य) दोनों रूपोंका निषेध करती है, इसलिये ब्रह्म निर्विशेष (निराकार) है ।

ब्रह्मको सविशेष माननेमें, इन प्रमाणोंके अतिरिक्त जो श्रुतियां ब्रह्मको भेद—शून्य और व्यापक कहती हैं उनका भी विरोध है, क्योंकि सविशेष (सधर्मक) पदार्थ देश—काल—वस्तुओमेंसे किसी एकके द्वारा तो अवश्य ही परिच्छिन्न (परिमित) रहता है और जो ऐसा परिच्छिन्न हो उसे वस्तुतः व्यापक नहीं कह सकते । इसी प्रकार सविशेष पदार्थ सर्वथा भेद—शून्य भी नहीं होसकता, क्योंकि अन्य पदार्थके न होनेसे यदि दूसरे भेद न हुआ तो अपने धर्मोंसे तो अवश्य होजायगा ।

और ब्रह्मकी सविशेषतामें (सधर्मतामें) '**समो मशकेन समो नागेन**' (अर्थ—ब्रह्म मशक (मच्छर) के समान है, नागके समान है) यह श्रुति भी बाधक है, क्योंकि इसमें एक ही ब्रह्मके अनेक परिमाणोंका उल्लेख है और यह अनेक—परिमाणोंका होना तभी संभव है जब कि ब्रह्म स्वयं परिमाण—शून्य हो और औपाधिक परिमाणोंके आरोपसे परिमाणवाला समझा जाता हो । जैसे घटान्तर्गत आकाश घट-परिमित और गृहान्तर्गत आकाश गृह—परिमित समझा जाता है । और जो स्वयं परिमाणशून्य तथा औपाधिक—परिमाणवाली है उसे सविशेष नहीं कह सकते, क्योंकि सविशेष पदार्थका कोई भी एक परिमाण निश्चित होता है और वह परकीय—परिमाणके आरोपका विरोधी होता है । यद्यपि अनेक पदार्थोंमें निज परिमाणके रहते हुए भी औपाधिक परिमाणोंका आरोप देखा गया है, परन्तु जहाँ एक ही वस्तुके अनेक परिमाण बताये गये हैं और उनमेंसे किसी एकको वास्तविक माननेमें कोई प्रमाण नहीं है वहाँ सभी परिमाणोंको औपाधिक मानना ही युक्ति—युक्त होता है ।

इसके अतिरिक्त परिमाण–प्रयोजक कर–चरण आदि विशेष लौकिक हैं, इसलिये अलौकिक ब्रह्म–स्वरूपमें इनकी सत्ता स्वीकार कर भी नहीं सकते। और ब्रह्मको सर्व भवन–समर्थ, विरुद्ध–धर्माधार मान कर इन विशेषोंको अलौकिक मानना तो व्यर्थका विस्तार बढाना है, अतः ब्रह्मको निर्विशेष (निर्गुण) मानना ही ठीक है।

(ब्रह्म सगुण और साकार है)

(३७) **सिद्धान्ती—'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'** इत्यादि सूत्र ब्रह्मको निर्विशेष प्रमाणित नहीं करते, क्योंकि जो श्रुतियाँ ब्रह्ममें जड और जीवोंके धर्मोंको बताती हैं उनके अर्थका विचार इस प्रकरणमें है। इसमें प्रथम स्थूल विचारसे यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया कि "**अस्थूलमनणु**" इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्ममें संपूर्ण धर्मोंका निषेध करती हैं और '**सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः**' इत्यादि श्रुतियाँ, जो धर्म जीव और जडोंमें प्रतीत होते हैं उनको ब्रह्ममें बताती हैं, अतः इन दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके पारस्परिक विरोधको दूर करनेके लिये यह मानना चाहिये कि ब्रह्म जडजीवात्मक जगत्में व्याप्त है इसलिये, जैसे घटकी चलन क्रियाका घटाऽऽकाशमें आरोप किया जाता है, ऐसे ही जड–जीवोंके धर्मोंका ब्रह्ममें आरोप कर धर्म–बोधिका श्रुतियाँ ब्रह्मका वर्णन करती हैं, वस्तुतः ब्रह्म निर्धर्मक है, और धर्म निषेधिका श्रुतियाँ उपाधि–रहित ब्रह्मका वर्णन करती हैं इसी लिये उपाधि–सम्बन्धसे प्रतीत हुए धर्मोंका निषेध करती हैं।"

इसके उत्तरमें यह कहा कि "**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**" इत्यादि प्रमाण, संपूर्ण वेद ब्रह्महीका निरूपण करते हैं यह कहते हैं, इसलिये धर्म–बोधिका श्रुतियाँ औपाधिक धर्मोंका वर्णन करती हैं यह नहीं मान सकते, क्योंकि औपाधिक धर्म वस्तुतः ब्रह्म–स्वरूपके अन्तर्गत नहीं हैं। और धर्म–बोधिका श्रुतियाँ अनेक हैं, यदि सर्वत्र औपाधिक धर्मोंका ही वर्णन माना जायगा तो वेदका बहुत बडा भाग ब्रह्म–वर्णनसे वञ्चित रह जायगा।"

इसके अनन्तर फिर साधारण–दृष्टिसे एक यह विचार उपस्थित हुआ कि "पूर्वोक्त दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके अनुरोधसे ब्रह्मके सोपाधिक (उपाधियुक्त) और निरुपाधिक (उपाधिरहित) ऐसे दो स्वरूप मान कर धर्म–बोधिका श्रुतियाँ सोपाधिक ब्रह्मका और धर्म–निषेधिका श्रुतियाँ निरुपाधिक ब्रह्मका वर्णन करती हैं ऐसी व्यवस्था करना ठीक है।"

इसके विषयमें यह प्रत्युत्तर दिया गया कि "ब्रह्मके सोपाधिक और निरुपाधिक ऐसे दो स्वरूप मान नहीं सकते, क्योंकि '**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**' इत्यादि श्रुतियाँ

ब्रह्मके स्वरूपमें भेद माननेका निषेध करती हैं ।" यही **'न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्'** **'अपि चैवमेके'** इन दो सूत्रोंका अर्थ है ।

इसके अनन्तर पूर्वोक्त संपूर्ण विचारोंके अनुसन्धानसे यह प्रश्न हुआ कि "यदि धर्म–बोधिका श्रुतियाँ औपाधिक धर्मोंका या सोपाधिक ब्रह्मका वर्णन नहीं करतीं तो और किसका वर्णन करती हैं, क्योंकि शुद्ध ब्रह्ममें जड–जीवोंके धर्म न होनेसे उसका वर्णन तो कर ही नहीं सकतीं ।"

इसका उत्तर **'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्'** इस सूत्रसे इस प्रकार दिया कि **"सर्वकामः सर्वगन्धः"** **'सर्वतःपाणिपादान्तम्'** इत्यादि धर्म और कर–चरण आदि अवयवोंका वर्णन करनेवाली श्रुतियाँ भी शुद्ध ब्रह्मका ही वर्णन करती हैं, क्योंकि ब्रह्मके ये धर्म और कर–चरण आदि अवयव, ब्रह्मसे भिन्न नहीं है । यद्यपि लोकमें धर्म और अवयव धर्मीसे भिन्न माने जाते हैं, परन्तु ब्रह्मके धर्म और अवयवोंको ब्रह्मसे भिन्न नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा माननेसे **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** (अर्थ–सब वेदोंसे मेरा ही ज्ञान होता है) इत्यादि वचनोंके अनुसार जो यह सिद्धान्त माना गया है कि सब वेदान्तोंका अर्थ ब्रह्म ही है इसका भङ्ग होजायगा ।"

इसके अनन्तर भी **'स यथा सैन्धवघनः'** इस श्रुतिके आशयको स्पष्ट करते हुए **'आह च तन्मात्रम्'** इस सूत्रसे ब्रह्मको ज्ञानैकघन बताया है । इससे भी ब्रह्मके धर्म और अवयव ब्रह्मसे अभिन्न हैं यही प्रमाणित होता है ।

और धर्म–बोधक वेद वचनोंको ब्रह्म–वर्णन–पर कहनेवाले **'सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात्'** इत्यादि सूत्र भी इसी आशयका समर्थन करते हैं ।

इसके बाद **'अस्थूलमनणु'** इत्यादि जो श्रुतियाँ ब्रह्मके शरीर और धर्मोंका निषेध करती हैं उनकी व्यवस्था करते हुए **'दर्शनाच्च'** इस सूत्रके द्वारा यह कहा कि "श्रुति–स्मृति–प्रत्यक्षोंसे ब्रह्म अनेक परस्पर–विरुद्ध धर्मोंका आधार प्रमाणित होता है इसलिये ब्रह्मको सविशेष माननेमें **'अस्थूलमनणु'** आदि श्रुतियोंके विरोधकी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि ये जिन धर्माभावोंका बोध कराती हैं वे भी ब्रह्ममें विद्यमान हैं और धर्म–बोधिका श्रुतियाँ जिन धर्मोंको बताती हैं वे भी ब्रह्ममें हैं, ब्रह्मका स्वरूप ही ऐसा विलक्षण है कि इसमें परस्पर–विरुद्ध सभी धर्मोंका समावेश होजाता है ।" अतः ब्रह्मको विरुद्ध–धर्माऽऽधार ही मानना चाहिये ।

इसके अनन्तर—

'प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः'

अर्थ–धर्म–निषेधिका श्रुतियाँ ब्रह्ममें प्रापञ्चिक धर्मोंका निषेध करती है, क्योंकि धर्म–निषेधके अनन्तर पुनः उसी प्रकरणमें धर्मोंका बोध कराया जाता है ।

इस सूत्रसे धर्म–निषेधिका श्रुतियोंके विरोधका यौक्तिक परिहार इस प्रकार किया कि **'अस्थूलमनणु'** आदि सभी धर्म–निषेधिका श्रुतियाँ ब्रह्ममें केवल प्रापञ्चिक धर्मोंका निषेध करती हैं, धर्म–बोधिका श्रुतियोंके कहे हुए सर्वेश्वरत्वादि धर्मोंका निषेध नहीं करती, क्योंकि धर्म–निषेधके अनन्तर पुनः उसी प्रकरणमें धर्मोंका बोध कराया गया है। जैसे बृहदारण्यकके गार्गी–ब्राह्मणमें **'अस्थूलमनणु'** इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा प्रथम धर्मोंका निषेध किया गया है, और अनन्तर वहीं **'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'** इस श्रुतिसे "ब्रह्म, सूर्य और चन्द्रको अपने शासन द्वारा यथा–स्थान स्थित रखता है" यह प्रशासन धर्मका उपदेश किया है। इसी प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद्में **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** इतने श्रुत्यंशसे प्रथम ब्रह्मको मन और वाणी स्पर्श नहीं करती यह निषेध किया है, परन्तु पुनः **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्च न'** इस शेष अंशसे ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला पुरुष किसीसे भी नहीं डरता है यह कह कर ब्रह्मको मन, वाणी स्पर्श करते हैं यह प्रमाणित कर दिया, क्योंकि विना मनः–स्पर्शके ज्ञान नहीं होसकता और जिसका ज्ञान होजाता है उसका वाणी भी वर्णन कर सकती है। ऐसे और भी अनेक प्रकरण हैं जिनमें धर्म–निषेधके अनन्तर पुनः धर्मोंका बोध कराया गया है। यदि धर्म–निषेधिका श्रुतियोंसे वेदोक्त सभी ब्रह्म–धर्मोंका निषेध करना होता तो प्रत्येक प्रकरणमें धर्म–निषेधसे पूर्व ही धर्मोंका बोध कराना चाहिये था जिससे किन धर्मोंका निषेध है इसका उत्तर समझनेमें सरलता होती, परन्तु ऐसा न करके पूर्व–दर्शित प्रकरणोंमें जो इससे विपरीत क्रम रक्खा गया है इससे यही निश्चित होता है कि निषेध प्रापञ्चिक धर्मोंका है और विधान अलौकिक धर्मोंका है। अतः धर्म–बोधिका और धर्म–निषेधिका श्रुतियोंमें परस्पर कोई विरोध नहीं।

यद्यपि सर्व–कामत्व, सर्व–गन्धत्व आदि धर्म नाम साम्यसे लौकिक मालूम होते हैं, परन्तु वस्तुतः लौकिक नहीं हैं। और **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** यह श्रुति भी ब्रह्मको मन, वाणीके अगोचर इसी आशयसे कहती है कि ब्रह्मका स्वरूप अलौकिक है इसलिये मन, वाणी उसको स्पर्श करनेकी शक्ति नहीं रखते। परन्तु ब्रह्म कृपा कर जिसको अपने स्वरूपका परिचय देना चाहता है उसके, मन वाणी उस अलौकिक स्वरूपका स्पर्श करते भी हैं। इसीलिये **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'** यह उक्त श्रुतिका शेष अंश ब्रह्मानन्दके अनुभवका वर्णन करता है। अतः यहाँ भी पूर्वापर कोई विरोध नहीं है।

ऐसे ही उक्त–सूत्रानुसार मूर्तामूर्त ब्राह्मणमें भी विरोध–परिहार होजाता हैं। वहाँ प्रथम **'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च'** इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मके मूर्त (पृथिवी

जल आदि दृश्य पदार्थ) और अमूर्त (वायु आदि अदृश्य पदार्थ) ऐसे दो स्वरूपोंका वर्णन किया है और अनन्तर **'अथात आदेशो नेति नेति'** इस श्रुतिसे सामान्य–निषेध किया है–इसमें यह नहीं मालूम होता कि निषेध किसका है ?, ब्रह्मका है ? या ब्रह्मके मूर्त–अमूर्त रूपोंका ? अथवा मूर्तामूर्त और ब्रह्म सभी का । –इसीका निर्णय उपर्युक्त सूत्रने किया कि निषेध मूर्त अमूर्त रूप या ब्रह्मका नहीं है, किन्तु जीव–दृष्टिसे मूर्त अमूर्त पदार्थोंका जो स्वरूप प्रतीत होता है ऐसा ही और इतना ही ब्रह्मका स्वरूप नहीं है–यह इस प्रकार लौकिकताका और परिच्छेदका निषेध है । तात्पर्य यह कि मूर्तामूर्त ब्रह्मका मूर्तामूर्त स्वरूप भी वैसा ही है जैसा कि **'सर्वतःपाणिपादान्तम्'** इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं । अतः विरोधकी कोई आशङ्का नहीं ।

पूर्वपक्षी—'प्रकृतैतावत्त्व' शब्दका मूर्त अमूर्त रूप ही अर्थ होसकता है, क्योंकि 'प्रकृत' शब्दका प्रस्तुत ही अर्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है और **'अथात आदेशः'** इस श्रुतिसे पूर्व प्रस्तुत मूर्त अमूर्त रूप ही हैं । और 'एतावत्त्व' शब्द तो बुद्धि–विषय या सन्निहित अर्थको कहनेवाला है इसलिये 'प्रकृत' शब्दके सम्बन्धसे उपर्युक्त अर्थका ही बोध कर सकता है । अतः इन दोनों शब्दोंकी बोधक–शक्तिका संकोच कर केवल लौकिकता या परिच्छेद ही अर्थ मानना अयोग्य है ।

सिद्धान्ती—पूर्वोक्त मूर्तामूर्त रूपोंके बोधके लिये केवल 'एतावत्त्व' शब्दका प्रयोग करना ही पर्याप्त है, क्योंकि तुम इसे 'इति' शब्दका समानार्थक मानते हो, अतः तुम्हारे मतके अनुसार जैसे 'नेति नेति' श्रुतिके 'इति' शब्दसे मूर्त, अमूर्त रूप और वासना–राशिका बोध होजाता है, ऐसे ही यहाँ भी 'एतावत्त्व' शब्दसे होजायगा । इसके लिये 'प्रकृत' शब्दके प्रयोगकी क्या आवश्यकता है ? । यदि 'एतावत्त्व' शब्द सामान्यार्थ–वाचक है, इससे पूर्वोक्त विशेष अर्थका बोध नहीं होसकता इसलिये 'प्रकृत' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता है तो केवल 'प्रकृत' शब्द का ही प्रयोग किया जाय, फिर 'एतावत्त्व' शब्दकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्व प्रस्तुत मूर्त अमूर्त रूपोंका बोध केवल प्रस्तुतार्थ–वाचक 'प्रकृत' शब्दहीसे होसकता है । तात्पर्य यह कि तुम्हारे कथनानुसार अर्थ माननेसे उपर्युक्त दो शब्दोंमेंसे किसी एककी व्यर्थता अवश्य होती है, अतः ऐसा न मान कर पूर्वोक्तानुसार लौकिकता और परिच्छेद ही अर्थ मानना उचित है । और 'प्रकृत'–शब्दसे बने हुए 'प्राकृत' शब्दका लौकिक और 'एतावत्' शब्दका 'परिच्छिन्न वस्तु' अर्थ सर्व–संमत है, इसलिये इन दोनों समुदित भाव–प्रत्ययान्त शब्दोंका ('प्रकृतैतावत्त्व'–शब्दका) उपर्युक्त अर्थ मानना किसी भी प्रकार गौण या अयोग्य नहीं हो सकता । अतः इस सूत्रसे भी ब्रह्म सविशेष ही सिद्ध होता है, निर्विशेष नहीं ।

(उपासनाके लिये ब्रह्ममें अविद्या–कल्पित धर्मोंका आरोप है)

(३१–३४) **पूर्वपक्षी**—उपनिषदोंके अनेक भागोंमें ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन हैं और उपासना निर्विशेष ब्रह्मकी हो नहीं सकती इसलिये अविद्या–कल्पित धर्मोंका आरोप कर श्रुतियाँ ब्रह्म–स्वरूपकों सविशेष कहती हैं ।

और व्याससूत्रोंमें भी ब्रह्मके स्वरूपको सविशेष इसी आशयसे कहा है कि सविशेष स्वरूपकों वस्तुतः ब्रह्म समझ कर उपासना की जाय तभी उपासना फलवती होती है । अतः इनके आधारपर ब्रह्म–स्वरूपको वस्तुतः सविशेष मानना अयोग्य है । और ब्रह्म यदि सविशेष होता तो **'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'** (अर्थ–व्रही निर्विशेष ब्रह्म है, यह नहीं कि जिसकी तुम उपासना करते हो) यह श्रुति उपास्य सविशेष स्वरूप ब्रह्म नहीं है यह कैसे कहती ।

(३८) इसके अतिरिक्त—

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र–तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' ॥

यह श्रुति ब्रह्मके स्वरूपका परिचय इस प्रकार देती है कि सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत्, अग्नि आदि किसी भी तैजस पदार्थके तेजसे ब्रह्मका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता, प्रत्युत ब्रह्मके ही तेजसे ये सब प्रकाशित होते हैं । और **'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा'** यह श्रुति भी "नेत्र वाणी आदि इन्द्रिय, तथा तप, याग, होम, देवता आदि, किसीके भी द्वारा ब्रह्मके स्वरूपका परिज्ञान नहीं होता" यह कहती है । ऐसे ही **'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः'** यह श्रुति भी ब्रह्मको इन्द्रिय स्पर्श नहीं करते यह कहती है । यदि ब्रह्म सविशेष होता तो ये श्रुतियाँ ब्रह्मको अप्रकाश्य, अदृश्य, और अज्ञेय कैसे कहतीं ? । अतः ब्रह्मको निर्विशेष ही मानना उचित है ।

ब्रह्मके धर्म (गुण) वास्तविक हैं अविद्याकल्पित नहीं है

(३२) **सिद्धान्ती**—जो अविद्या विशेषोंकी कल्पना कर ब्रह्मके स्वरूपको उपास्य बनाती है, वह क्या ब्रह्ममें रहती है या जीवमें ? । यदि ब्रह्ममें रहती है तो उसीमें विशेषोंकी कल्पना नहीं कर सकती, क्योंकि लोकमें, द्रष्टाके ही दोषोंसे व्यावहारिक दृश्य पदार्थोंमें प्रातिभासिक (भ्रमसे प्रतीत) पदार्थोंकी कल्पना होती देखी गई है । जैसे शुक्तिमें रजतकी और रज्जुमें सर्पकी कल्पना द्रष्टाके इन्द्रिय–गत दोष ही करते हैं । यदि शुक्ति या रज्जुके दोष ही सर्प और रजतकी कल्पना करते हों तो सभी मनुष्योंको सर्प और रजतका भ्रम होना चाहिये, क्योंकि दृश्य–गत दोषोंकी भ्रामकता सभीके

लिये समान है। और एक मनुष्यका रजत–भ्रम निवृत्त होते ही संपूर्ण जगत्का रजत–भ्रम निवृत्त होजाना चाहिये, क्योंकि दृश्यके दोषोंका नाश या अभिभव हुए विना भ्रमकी निवृत्ति हो नहीं सकती, और नाश तथा अभिभव किसी एक द्रष्टाके लिये है, सबके लिये नहीं है यह कह नहीं सकते। अतः दृष्टान्त न होनेसे ब्रह्म–गत अविद्या ब्रह्ममें विशेषोंकी कल्पना करती है यह सिद्ध नहीं हो सकता।

यदि विशेष–कल्पिका अविद्या जीवमें रहती है तो विना ही अविद्यासम्बन्ध ब्रह्म सविशेष सिद्ध होगया, क्योंकि ब्रह्मके प्रत्यक्ष हुए विना जीवकी अविद्या उसमें विशेषोंकी कल्पना नहीं कर सकती, क्योंकि लोकमें सर्वत्र प्रातिभासिक–कल्पना प्रत्यक्ष पदार्थोंमें ही देखी गई है।

ब्रह्मका प्रत्यक्ष होना भी आविद्यक है यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि अनेक श्रुतियोंका विरोध है। **'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्'** (अर्थ–मोक्ष चाहनेवाले किसी अन्तर्दृष्टि विद्वान्ने आत्माका दर्शन किया) यह श्रुति शुद्ध ब्रह्मके प्रत्यक्षका वर्णन करती है, क्योंकि मोक्षमें उपयोग ऐसे ही प्रत्यक्षका है। इसके अतिरिक्त **'यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः'** (अर्थ–ब्रह्मके जिस स्वरूपको मुनि लोग त्रिगुणात्मिका अविद्याके बाध होनेके अनन्तर देखते हैं) यह भागवतका वचन स्पष्ट ही 'गुणापाये' पदसे ब्रह्मका प्रत्यक्ष होना आविद्यक नहीं है यह प्रमाणित करता है।

यदि किसी प्रकार मान भी लें कि ब्रह्मका प्रत्यक्ष होना आविद्यक है तो अन्योन्याश्रय दोषकी आपत्ति है, क्योंकि अविद्या जब ब्रह्ममें विशेषोंकी कल्पना करेगी तब ब्रह्म दृश्य होगा और जब दृश्य होगा तब विशेषोंकी कल्पना होसकेगी। अतः ब्रह्मके प्रत्यक्ष होनेको आविद्यक नहीं, किन्तु वास्तविक ही मानना योग्य है।

(३८) और **'न तत्र सूर्यो भाति'** इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतियाँ तो केवल इतना ही कहती हैं कि सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशक पदार्थ, तथा इन्द्रिय अपने सामर्थ्यसे ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान नहीं करा सकते, यह नहीं कहती कि ब्रह्म सर्वथा अप्रकाश्य, अदृश्य और अज्ञेय है, क्योंकि ब्रह्म जब कृपा कर अपने स्वरूपको प्रकाशित करता है तो भक्तोंके लिये दृश्य, प्रकाश्य या ज्ञेय होता ही है। भगवान्ने स्वयं ही गीतामें **'मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्'** इस श्लोकके द्वारा अर्जुनसे कहा कि मैंने प्रसन्न होकर यह स्वरूप तेरे लिये दिखाया है। ऐसे ही श्रीभागवतमें ब्रह्मासे कहा कि (**'मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम्'**) तुम्हें जो नित्य–लीला–धामके दर्शन हुए यह मेरा अनुग्रह है। और भगवान् वेदव्यासने भी **'अपि संराधने**

प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' इस सूत्रके द्वारा यही निर्णय किया कि आराधनासे ब्रह्मके दर्शन होते हैं, क्योंकि श्रुतियाँ, स्मृतियाँ ऐसा कहती हैं। अतः ब्रह्मकों सविशेष ही मानना उचित है, इसमें किसी भी प्रमाणका विरोध नहीं है।

(३१-३२) **पूर्वपक्षी**—दृश्य-द्रष्टाओंका भेद अविद्या-मूलक है, क्योंकि अविद्या-दशामें ही रहता है, परमार्थ-दशामें नहीं रहता। परमार्थ मोक्ष दशामें तो **'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्केन कं पश्येत्'** (जब कि मुक्त पुरुषके आत्मासे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है तो किससे देखे और किसे देखे) यह श्रुति दर्शन-श्रवणादि क्रियाओंके अभावका वर्णन करती हुई उक्त भेदके अभावको भी प्रमाणित करती है। अतः ब्रह्मके दृश्य स्वरूपको भी आविद्यक ही मानना चाहिये। और उक्त श्रुतिके विरोधसे **'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्'** इत्यादि श्रुतियोंमें भी शुद्ध ब्रह्मके दर्शनका वर्णन नहीं मान सकते। जो इन श्रुतियोंमें शुद्ध ब्रह्मके बोधक 'प्रत्यगात्मानम्' आदि पदोंका प्रयोग किया गया है इसका आशय केवल इतना ही है कि उपास्य सगुण ब्रह्मका वास्तविक मूलरूप निर्गुण ब्रह्म है। और **'यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः'** इस वचनमें तो 'गुणापाये' पदसे उस अवस्थाका बोध कराया गया है जिसमें प्रारब्धका नाश न होनेसे भर्जित-बीज-सदृश ज्ञान-दग्ध अविद्याका सम्बन्ध रहता है, अतः इसमें भी आविद्यक दर्शन ही का वर्णन है, शुद्ध ब्रह्मके दर्शनका वर्णन नहीं है।

सिद्धान्ती—उक्त वचनोंमें ब्रह्मके आविद्यक दर्शनका वर्णन है यह कथन अत्यन्त ही अनुचित है, क्योंकि इनमें मोक्षोपयोगी दर्शनका वर्णन है और मोक्षमें उपयोग शुद्ध ब्रह्मके ही दर्शनका है, आविद्यक दर्शनका नहीं है। इसके अतिरिक्त **'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिन्द्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'** यह श्रुति भी ब्रह्म-दर्शनसे हृदयग्रन्थि, संशय और कर्मोंका नष्ट होना बताती है। यदि दर्शन आविद्यक होता तो यह किसी प्रकार संभव नहीं था, क्योंकि अविद्या-जन्य ज्ञान, भ्रमात्मक, मिथ्या होता है, उससे संशय, वासना-ग्रन्थि आदिका नाश नहीं होसकता। अत एव **'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्'** इस वचनमें भी शुद्ध ब्रह्मके ही दर्शनका वर्णन मानना आवश्यक है, क्योंकि **'अमृतत्वमिच्छन्'** (मोक्षको चाहनेवाला) पदसे इस ब्रह्म-दर्शनकी मोक्षेच्छु पुरुषके लिये जो उपयोगिता दिखाई है वह इसे आविद्यक माननेसे व्यर्थ होती है। और साथ ही शुद्ध-ब्रह्म-बोधक 'प्रत्यगात्मानम्' पदका जो प्रयोग किया गया है यह भी व्यर्थ होता है, क्योंकि आविद्यक दर्शनके साथ शुद्ध ब्रह्मका सम्बन्ध नहीं होसकता। और उपास्य सगुण ब्रह्मके मूलरूपको लक्ष्य कर 'प्रत्यगात्म' शब्दके प्रयोग करनेसे प्रस्तुतमें कोई लाभ नहीं है।

(३३) इसके अतिरिक्त जो वचन तप, ज्ञान, भक्ति आदि साधनोंके द्वारा ब्रह्मका दर्शन होना बतलाते हैं उनका भी विरोध है, क्योंकि तुम्हारे मतके अनुसार ब्रह्मका भ्रमात्मक ज्ञान ही होता है और ऐसे ज्ञानके लिये केवल अविद्या ही पर्याप्त है, उक्त साधनोंकी कोई आवश्यकता नहीं है । इसके अतिरिक्त चित्त–शुद्धि–कारक साधनोंका फल भ्रम हो भी नहीं सकता, क्योंकि भ्रम तो दूषित–चित्तमें होता है ।

और सृष्टि–समयमें किसी प्रकार जीवोंकी अविद्या द्वारा ब्रह्ममें धर्मोंकी कल्पना होना संभव भी है, परन्तु महाप्रलयके समय तो किसी जीव की ऐसी योग्यता रहती ही नहीं जो अपने आविद्यक भ्रमसे ब्रह्ममें धर्मोंकी कल्पना करे । अतः "महाप्रलयके समय भगवान् नारायण शेषशय्यापर शयन करते हैं" इस पौराणिक वर्णनकी उपपत्ति नहीं हो सकती । इसी प्रकार **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं'** इत्यादि श्रुतियाँ जो कहती हैं कि 'सबसे प्रथम परमात्माने ब्रह्माको उत्पन्न किया ।' इसकी भी यथाऽर्थता प्रमाणित नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्माके प्रादुर्भावके समय ईश्वरके अतिरिक्त ऐसा और कोई द्रष्टा नहीं है जिसके आविद्यक भ्रमसे ब्रह्मोत्पत्तिकी कल्पना हो । और ईश्वरको भ्रम हो नहीं सकता ।

(३३) **पूर्वपक्षी**—जैसे स्वाप्निक भयङ्कर वस्तुके दर्शनसे व्यावहारिक निद्राभङ्ग होता है, ऐसे ही आविद्यक ब्रह्म–दर्शनसे वास्तविक मोक्ष भी होसकता है । अतः **'कश्चिद्धीरः'** इत्यादि प्रमाण वचनोंमें शुद्ध–ब्रह्मके दर्शनका वर्णन है यह माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

और वेदोक्त ज्ञान, उपासना आदि साधन तथा चित्त–शुद्धि आदि उनके फल सभी आविद्यक हैं, इसलिये उक्त साधनोंके द्वारा आविद्यक दर्शनका होना अयोग्य नहीं है । और **'यदा कर्मसु काम्येषु'** यह श्रुति भी वेदोक्त काम्य कर्मोंसे स्वाप्निक स्त्रीभ्रम होनेका वर्णन करती हुई उसी आशयका समर्थन करती है । अतः ब्रह्म–दर्शनको पारमार्थिक मान कर इसके अनुरोधसे ब्रह्म–स्वरूपको सविशेष मानना सर्वथा अयोग्य है । जैसे मधुविद्यामें सूर्यका मधुरूपसे वर्णन करना काल्पनिक है, ऐसे ही वेदमें सर्वत्र ब्रह्मका सविशेष वर्णन भी काल्पनिक ही मानना चाहिये ।

सिद्धान्ती—चित्त–शुद्धि काम्यकर्मोंके अनुष्ठानसे नहीं होती, किन्तु निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानसे होती है । काम्यकर्मोंकी तो स्वयं भगवान् ने ही गीतामें **'गतागतं कामकामा लभन्ते'** इत्यादि श्लोकोंके द्वारा निकृष्टता दिखलाई है । अतः उपर्युक्त श्रुति जो काम्यकर्मोंके द्वारा स्वाप्निक स्त्री–भ्रम होना बताती है, यह अयोग्य नहीं है; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वेदोक्त सभी साधनोंका भ्रम–कल्पित ही फल

है, क्योंकि **'तपो मे हृदयं साक्षात्'** इस वचनसे भगवान्‌ने स्वयं यह उपदेश दिया है कि "तप मेरा हृदय है ।" अतः जो भगवान्‌का हृदय है वह या उसका फल ब्रह्म–दर्शन आदि आविद्यक नहीं होसकता । और आविद्यक माननेसे यदि सभी सविशेष वर्णनोंका समाधान होजाता हो तब तो मानना भी ठीक है, परन्तु यह होता नहीं । नारायणशयन, महाप्रलय, ब्रह्माका प्रादुर्भाव आदि अनेक ऐसे पौराणिक वर्णन हैं जिनमें जीवोंकी भ्रमात्मक कल्पनाका होना किसी प्रकार संभव नहीं है । अतः ब्रह्म–स्वरूपको वस्तुतः सविशेष ही मानना चाहिये ।

और मधु–विद्याके **'आदित्यो वै देवमधु'** इस सूर्य–वर्णनको सूत्रकार भगवान् वेदव्यासने अपने सिद्धान्तसे काल्पनिक नहीं कहा है, किन्तु अभ्युपगम–सिद्धान्तके अनुसार प्रतिवादि–मतको लेकर कहा है । सांख्यवादियोंने जो **'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'** इस श्रुतिको प्रमाण बता कर "त्रिगुणात्मिका अनादि प्रकृति ही प्रपञ्च–रचना करती है, ब्रह्म नहीं करता" यह कहा था, इसके उत्तरमें **'कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः'** (१–४–१०) इस सूत्रके द्वारा यह कहा है कि "उक्त श्रुतिमें अनादि प्रकृतिका वर्णन नहीं है, किन्तु परमात्मासे प्रथम उत्पन्न हुई ज्योतिः–स्वरूप देवताका वर्णन है । जैसे अजा स्वल्प दुग्ध देती है, ऐसे ही यह देवता भी उपासकको स्वल्प फल देती है इसलिये इसे अजा कहा है, वस्तुतः 'अजा' शब्दका अनादि अर्थ नहीं है । इसी प्रकार **'लोहितशुक्लकृष्णाम्'** पदकी भी **'यदग्ने रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपाम्'** (अर्थ–अग्निमें जो रक्तरूप है यह तेजका है, शुक्ल रूप जलका है) यह श्रुतिने ही स्वयं व्याख्या की है, इसलिये इसका सत्त्व–रज–तम अर्थ करना अयोग्य है ।" और अभ्युपगमसिद्धान्तानुसार ही 'अजा' शब्दके गौण अर्थ स्वीकार करनेमें उक्त मधुविद्याके वर्णनको दृष्टान्त बताया है । अतः सभी सविशेष–वर्णनोंका गौण अर्थ स्वीकार करानेके लिये यह दृष्टान्त नहीं होसकता । यदि मान भी लिया जाय कि उक्त वर्णनको सूत्रकारने अपने मतके अनुसार गौण कहा है, तथापि उक्त वर्णनके समान सभी सविशेष वर्णनोंको गौण मानना चाहिये यह नियम नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो जैसे सूत्रकारने इस मधु विद्याके वर्णनको काल्पनिक कहा है, ऐसे ही तुम्हारे अभिमत सभी सविशेष वर्णनोंको कहते ? । अतः अपने ही इच्छाऽनुसार सभी सविशेष वर्णनोंको काल्पनिक बताना सर्वथा अयोग्य है ।

पूर्वपक्षी—सविशेष (सगुण) स्वरूप उपास्य होते हैं, क्योंकि उनके साथ चित्त-वृत्तिका सम्बन्ध रहता है । और शुद्ध निर्गुण ब्रह्म उपास्य नहीं है, क्योंकि **'नेदं यदिदमुपासते'** (अर्थ–जिसकी उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है) यह श्रुति निषेध करती

है । अतः इसके विरुद्ध शुद्ध ब्रह्मको सविशेष मानना उचित नहीं । और सविशेष कहनेवाली श्रुतियाँ मायाऽवच्छिन्न चैतन्य, जिसे शास्त्र सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं उसका निरूपण करती हैं और जगत्के सृष्टि, प्रलय आदि कार्योंको भी मायोपाधिके सम्बन्धसे ईश्वर ही करता है इसलिये सृष्टि-प्रलय-बोधिका श्रुतियोंके व्यर्थ होनेकी भी आपत्ति नहीं है ।

(३३-३७) **सिद्धान्ती**—ब्रह्मके सगुण और निर्गुण स्वरूपोंमें वास्तविक या अवास्तविक किसी प्रकारका भेद नहीं है, क्योंकि भगवान् वेदव्यासने '**अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा**' इस सूत्रसे निर्गुण ज्ञेय ब्रह्मके विचारकी प्रतिज्ञा कर अनन्तर जिसे तुम सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते हो उसका विचार किया है, जो कि इन सूत्रोंसे स्पष्ट है—

'**जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्**' (अ. १ पा. १ सू. २)

अर्थ—इस जगत्के जन्म-स्थिति-प्रलयोंका कर्ता ब्रह्म है, क्योंकि शास्त्र कहता है।

'**अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्**' (अ. १ पा. १ सू. १९)

अर्थ—'**य एषोऽन्तरादित्ये**' इस श्रुतिमें जिस आदित्यान्तर्गत हिरण्मय पुरुषका वर्णन है वह ब्रह्म है, क्योंकि हिरण्मय पुरुषके जो धर्म बताये गये हैं वे सभी ब्रह्म धर्म हैं ।

यदि सगुण, निर्गुण ब्रह्म भिन्न होते तो भगवान् वेदव्यास प्रथम निर्गुण ब्रह्मके विचारकी प्रतिज्ञा कर अनन्तर सगुण ब्रह्मका विचार करनेको कैसे प्रवृत्त होते । और '**ईक्षतेर्नाशब्दम्**' इस सूत्रसे जिस सगुण ब्रह्मको जगत्कर्ता सिद्ध किया है उसीमें निष्ठा रखनेवालेका '**तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्**' इस सूत्रसे मोक्ष होना बतलाया है । तुम्हारे मतके अनुसार यदि जगत्कर्ता ब्रह्म शुद्ध ब्रह्मसे भिन्न होता और उसमें निष्ठा रखनेका फल केवल चित्त-शुद्धि होती तो सूत्रमें '**मोक्षोपदेशात्**' न कह कर '**चित्तशुद्ध्युपदेशात्**' ही (चित्त-शुद्धिका होना) कहते ।

इसके अतिरिक्त '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत, अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः**' इस श्रुतिके अर्थका निर्णय करते हुए भगवान् वेदव्यासने जो '**सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्**' इस सूत्रके द्वारा यह कहा है कि "विराड् ब्रह्मकी उपासनासे जिसका चित्त शुद्ध होगया है उस पुरुषके लिये किसी जीवकी उपासनाका उपदेश नहीं हो सकता । अतः इस श्रुतिमें सर्व-वेदान्त-प्रसिद्ध ब्रह्मका ही उपदेश मानना चाहिये" इससे भी यही प्रमाणित होता है कि सगुण-निर्गुण-भेद नहीं है, क्योंकि तुम्हारे मतके अनुसार सगुण या निर्गुण कोई भी एक ब्रह्म सर्व-वेदान्त-प्रसिद्ध नहीं है । '**सर्वकामः सर्वगन्धः**' आदि धर्मबोधक वेदान्तोंमें सगुण ब्रह्म प्रसिद्ध है और '**अस्थू-**

लमनणु' आदि धर्म—निषेधक वेदान्तोंमें निर्गुण ब्रह्म प्रसिद्ध है। अतः सगुण—निर्गुण—भेद होता तो '**सर्वं खल्विदम्**' इस श्रुतिमें वर्णित सगुण ब्रह्मको सर्व वेदान्त—प्रसिद्ध न कहते।

और—

'यन्मनो न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'

इस श्रुतिको प्रमाण बता कर ब्रह्म उपास्य नहीं है यह कहना भी केवल अबोध—मूलक है, क्योंकि इस श्रुतिके '**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदम्**' पर्यन्तके भागसे यह कहा गया है कि जिसको अपनी शक्तिसे मन प्रकाशित नहीं करता, और जो मनको प्रकाशित करता है उसे ही ब्रह्म समझो, न कि इस जीवेन्द्रियादि—स्वरूपको। इसके अनन्तर वह मनः—प्रकाशक ब्रह्म कौन सा है इस आकाङ्क्षाकी पूर्तिके लिये '**यदिदमुपासते**' इस भागसे यह कहा कि मनः—प्रकाशक ब्रह्म वही है जिसकी वैदिक लोग उपासना करते हैं। अतः इसमें कोई भी ऐसा अंश नहीं है, जिससे ब्रह्म उपास्य नहीं है यह प्रमाणित होसके, प्रत्युत इससे विपरीत 'ब्रह्म उपास्य है' यही इस अन्तिम चरणसे प्रमाणित होता है।

और तुमने जो इस अन्तिम चरणका प्रथम भागके साथ सम्बन्ध मान कर 'जिसकी उपासक लोग उपासना करते हैं वह यह ब्रह्म नहीं है' ऐसा अर्थ किया है, यह तो सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि इससे 'नेदम्' 'यदिदम्' इन दो 'इदम्'—शब्दोंमेंसे एकका प्रयोग व्यर्थ होता है। कदाचित् व्यर्थताकी ओर ध्यान न देकर आग्रहसे यह अर्थ माना भी जाय तो पूर्वोक्त व्याससूत्रोंका विरोध है।

(३६) और यह तो कह नहीं सकते कि '**अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्**' इत्यादि व्याससूत्र भी आदित्यान्तर्गत हिरण्मय पुरुष आदि उपास्य स्वरूपोंको ब्रह्म इसलिये कहते हैं कि ब्रह्म मान कर उपासना कीजाय तभी उपासना फलवती होती है, क्योंकि '**आत्मेत्येवोपासीत**' यह श्रुति उपास्य—स्वरूपोंकी आत्मरूपसे उपासना करनेको वैध बताती है और आत्म—स्वरूपको जैसा हो वैसा न मान कर विपरीत माननेमें महापाप है जो कि इस श्रुतिसे विदित होता है—

"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्माऽपहारिणा"

---

१ महाभारतस्थ-शकुन्तलोपाख्यानका यह वचन है ऐसा कोई कहते हैं।

अर्थ—जो आत्माके स्वरूपकों औरका और ही समझता है उस आत्माको छिपानेवाले चौरने क्या पाप नहीं किया ।

और वस्तुके विपरीत—ज्ञानसे वास्तविक फलका लाभ भी नहीं होसकता । यदि कोई वायु—शामक औषधकी अपेक्षा करनेवाला मनुष्य वायु—प्रकोपक औषधको वायु—शामक मान कर सेवन करे तो उससे वायु—शमन नहीं होता, इसी प्रकार अब्रह्मको ब्रह्म समझ कर उपासना करनेसे चित्त—शुद्धि या क्रममुक्ति फलका लाभ नहीं हो सकता । अतः "भगवान् वेद्व्यास उपास्य स्वरूपोंमें उपासनाके लिये ब्रह्म—बुद्धिका विधान नहीं करते, किन्तु उपास्य स्वरूपोंको वस्तुतः ब्रह्म कहते हैं" यही मानना उचित है ।

अवतार मायिक हैं या ब्रह्म—स्वरूप

पूर्वपक्षी—वाराह—पुराणमें भगवान् वाराह देवने पृथ्वीके प्रश्नका उत्तर देते हुए—

'मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥
इत्येताः कथितास्तस्य मूर्तयो भूतधारिणि ।
दर्शनं प्राप्तुमिच्छूनां सोपानानि च शोभने'

इन श्लोकोंके द्वारा मत्स्य; कूर्म, वराह आदि दश अवतारोंको परब्रह्म—दर्शन की इच्छा करनेवाले मनुष्योंके लिये सोपान (सीढी) कहा है और इनको सोपान कहनेका आशय यही होसकता है कि जैसे सोपान प्राप्य वस्तुसे भिन्न हैं और उसकी प्राप्तिमें साधन हैं ऐसे ही ये अवतार पर ब्रह्मसे भिन्न हैं और उसकी प्राप्तिमें साधन हैं । इन दशावतारोंमें वह श्रीकृष्ण भी है जिसे तुम अपनी आभिनिवेशिक दृष्टिसे पर ब्रह्म कहते हो ।

ये सब अवतार परब्रह्मसे भिन्न हैं, अत एव अविद्या—कल्पित हैं, क्योंकि **'एकमेवाद्वितीयम्'** इत्यादि अभेद—बोधिका श्रुतियोंके अनुरोधसे पर—ब्रह्मसे भिन्न कोई वास्तविक तो हो नहीं सकता, अविद्याकल्पित ही हो सकता है ।

यद्यपि ये अवतार अविद्या—कल्पित हैं, तथापि इनको ब्रह्म मान कर अनेक उपासक उपासना करते हैं और उनको अपने २ मनोरथानुसार आविद्यक नश्वर फल मिलते हैं यह सर्व—शिष्टसंमत है । अतः जैसे इन आविद्यकोंकी उपासनासे फल—लाभ होता है, ऐसे ही वेदोक्त आविद्यक हिरण्मयादि पुरुषोंको भी ब्रह्म मान कर उपासना करनेसे फल—लाभ हो सकता है, इसके लिये हिरण्मय पुरुष आदि उपास्य स्वरूप वस्तुतः ब्रह्म हैं यह माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

सिद्धान्ती—उपर्युक्त श्लोकोंमें दशावतारोंको सोपान कहनेका आशय यह है कि निवृत्ति–धर्मके द्वारा परब्रह्मकी प्राप्ति होती है और इसकी स्थापना, अभिवृद्धि आदि, दर्शन उपदेश दुष्ट–हननादि–कार्योंसे उक्त अवतार करते हैं, इसलिये ये भी पर–ब्रह्मकी प्राप्तिमें साधन हैं, सोपान कहनेका यह आशय नहीं कि उक्त अवतार पर–ब्रह्मसे सर्वथा भिन्न और अविद्या–कल्पित हैं, क्योंकि **'इत्येताः कथितास्तस्य मूर्तयो भूतधारिणि'** इस श्लोकांशसे उक्त अवतारोंको पर–ब्रह्मकी मूर्ति कहा है और पर ब्रह्म **'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'प्रणम्य परमात्मानं सच्चिदानन्दविग्रहम्'** इत्यादि अनेक श्रुति–स्मृतियोंसे आनन्दमूर्ति निश्चित है, यदि उक्त अवतार आविद्यक होते तो इन्हें पर–ब्रह्मकी मूर्ति न कह कर अविद्या–मूर्ति कहते। अतः उक्त प्रमाणोंके अनुसार अवतारोंको आविद्यक कहना सर्वथा अयोग्य है।

और सोपान कह कर पर–ब्रह्मकी अपेक्षा जो इनकी गौणता दिखाई है यह तो अनुचित नहीं है, क्योंकि ये अंशावतार हैं, इनमें जो कृष्ण है वह भी अंशावतार है, हम जिसे पूर्ण ब्रह्म कहते हैं वह गीताका वक्ता कृष्ण नहीं है, क्योंकि उसने गीतामें स्वयं अपनेको **'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूत–महेश्वरम्'** (अर्थ–मुझे सर्वेश्वर आनन्द–स्वरूप न जानते हुए मूर्ख लोग मनुष्य समझकर मेरी अवज्ञा करते हैं) इस श्लोकके द्वारा (भूत–महेश्वरम्) सर्वेश्वर और (परं भावम्) आनन्द–स्वरूप बताया है, एवं अन्यथा समझनेवालेकी मूर्ख कह कर निन्दा की है। अतः गीताके वक्ता श्रीकृष्ण शुद्ध ब्रह्म, अवतारी मूलरूप ही हैं।

जैसे ये अवतार भगवत्स्वरूप हैं, आविद्यक नहीं है; ऐसे ही व्याससूत्रोक्त हिरण्मय पुरुष आदि उपास्य स्वरूप भी ब्रह्म ही हैं, आविद्यक नहीं हैं। अत एव उपासना भी फलवती होती है।

(३४) और सर्वत्र आविद्यक कल्पनाका होना संभव भी नहीं है। भागवतके एकादश स्कन्धमें **'कृते शुक्लश्चतुर्बाहुः'** इत्यादि श्लोकोंसे चारों युगोंके अनुसार भगवान्के चार उपास्य स्वरूप पृथक् २ बताये हैं। और पञ्चमस्कन्धमें भी भारतवर्ष, किम्पुरुष–वर्ष आदि पृथ्वी–खण्डोंका वर्णन करते हुए सब खण्डोंमें पृथक् २ उपास्य स्वरूपोंका वर्णन किया है। यदि ये उपास्य स्वरूप आविद्यक होते तो इस नियमका होना सर्वथा असंभव था कि शुक्ल भगवान् सत्ययुगमें ही उपास्य हैं, अन्य युगोंमें नहीं, और भगवान् नारायणकी भारत वर्षमें ही उपासना की जाती है, अन्य वर्षोंमें नहीं, क्योंकि अविद्या, भ्रमसे प्रतीति करावेगी तो सब देश और सब कालमें करा सकेगी। शुक्तिरजतकी प्रतीतिके लिये कोई ऐसा नियम नहीं देखा गया कि अमुक देशमें अमुक दिन

अमुक मुहूर्तमें शुक्ति–रजतकी प्रतीति होती है, अन्य देशमें और कालमें नहीं होती। और यह भी नहीं कह सकते कि ऐसी भिन्न २ कल्पनाओंमें कालका या अविद्याका स्वभाव कारण है, क्योंकि कालकी भी आविद्यक भ्रमसे प्रतीति मानते हो इसलिये, जैसे इन उपास्य स्वरूपोंका नियम नहीं होसकता, ऐसे ही कालका भी नहीं होसकता। और अद्वैत–श्रुतियोंके अनुरोधसे अविद्याको असती मानते हो, इसलिये उसका स्वभाव भी वैसा ही असत् है, वह क्या कल्पना करेगा, क्योंकि कार्य असत् होसकता है, परन्तु कारण असत् नहीं होसकता। और अविद्याका ऐसी कल्पना करनेका स्वभाव है इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। अतः उपास्य स्वरूप अविद्या–कल्पित है यह नहीं कह सकते।

ब्रह्मकी सावयवता।

(३२) **पूर्वपक्षी**—सर्वत्र उपास्य स्वरूपोंके कर–चरणादि अवयवोंका वर्णन मिलता है और **‘न तस्य कार्यं करणं च विद्यते’** यह श्रुति कार्य तथा इन्द्रियोंकी सत्ताका निषेध करती हुई ब्रह्मको अवयव–रहित प्रमाणित करती है। अतः इसके अनुरोधसे उपास्य स्वरूपोंको ब्रह्म मानना उचित नहीं।

सिद्धान्ती—‘न तस्य कार्यं करणं च विद्यते’ इस श्रुतिका यह आशय नहीं कि ब्रह्मके कर्तव्य और देहेन्द्रियादि नहीं है, किन्तु जीवोंके सदृश ब्रह्मके देहेन्द्रियादि, कार्य अर्थात् जन्य नहीं हैं और करण–चक्षुरादि इन्द्रिय–अपने स्वरूपसे अतिरिक्त नहीं है यह आशय है, क्योंकि इसी श्रुतिके **पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च’** इस उत्तरार्द्धमें ब्रह्मके ज्ञान, बल और क्रियाकी स्वाभाविकताका तथा विविध शक्तियोंकी सत्ताका उल्लेख है। यदि ब्रह्म सर्वथा अवयव शून्य और क्रिया रहित होता तो यह बल और क्रियाकी स्वाभाविकताका उल्लेख न होता।

पूर्वपक्षी—उक्तश्रुतिमें ‘स्वाभाविकी’ शब्दसे क्रियाकी नित्यताका बोध कराया गया है और इस नित्य क्रियाकी मायोपाधिके सम्बन्धसे ब्रह्ममें प्रतीति होती है, इसीलिये प्रकृत श्रुति भी ब्रह्मको सक्रिय कहती है, परन्तु ब्रह्म अपने स्वरूपसे वस्तुतः निष्क्रिय है। अत एव ‘न तस्य कार्यम्’ यह कर्तव्यमात्रका निषेध किया गया है।

सिद्धान्ती—यह कथन तो केवल प्रतारणा–मात्र है, क्योंकि **‘स्वरूपं च स्वभावश्च’** इस कोषके अनुसार ‘स्वाभाविकी’ शब्दका स्वरूपात्मिका ही अर्थ होसकता है, ‘नित्या’ अर्थ नहीं होसकता। जलकी शीतलता स्वाभाविकी है इत्यादि लौकिक वाक्योंमें भी सर्वत्र ‘स्वाभाविकी शब्दका स्वरूपात्मिका ही अर्थ’ देखा गया है। अत एव ज्ञान और बलकी सत्ता ब्रह्ममें मायोपाधिके सम्बन्धसे है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि ‘स्वाभाविकी’ शब्दका इनके साथ भी सम्बन्ध है।

और इस श्रुतिका **'न तत्समश्च'** यह अंश भी 'ब्रह्मके सदृश कोई दृष्टि–गोचर नहीं होता' इस कथनसे ब्रह्मको स्वरूपाभिन्न–देहेन्द्रिय सिद्ध करता है, क्योंकि जीवोंके देहेन्द्रिय इनके स्वरूपसे अभिन्न नहीं है, इसीलिये इनके सादृश्यका **'न तत्समः'** इससे ब्रह्ममें निषेध किया गया है ।

इस प्रकार इस श्रुतिसे ब्रह्म क्रिया–देहेन्द्रियवान् है इस आशयकी पुष्टि ही होती है, निषेध नहीं होता ।

और ब्रह्मके क्रिया–देहेन्द्रियोंको स्वीकार करनेमें इन निम्नलिखित प्रमाणोंका भी अनुग्रह है—

'सर्वतः–पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।'

अर्थ—ब्रह्मके स्वरूपमें सर्वत्र कर–चरण तथा परिच्छेद हैं, और मुख, मस्तक, नासिका, कर्ण इत्यादि अवयव भी सर्वत्र हैं । ऐसा यह ब्रह्मस्वरूप सबको आवृत करके स्थित है ।

ब्रह्म कर्ता है यह तो तुम्हारे मतके अनुसार भी संपूर्ण ईक्षत्यधिकरणसे सिद्ध होता है।

ब्रह्म स्वरूपकी व्यवहार्यता और उसके कारण

(३८) **पूर्वपक्षी—**राम–कृष्णादि उपास्य स्वरूप जिस समय प्रकट हुए थे उस समय बाल, वृद्ध, शत्रु, उदासीन आदि सभीके दृष्टि–गोचर होते थे, जो कि भक्ति न करनेवाले हैं उनके भी । अतः इनकों ब्रह्म मानना उचित नहीं, क्योंकि **'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'** इस सूत्रके अनुसार उपास्य स्वरूपका दर्शन आराधना करनेसे होता है यह तुम प्रथम कह चुके हो । और किसीको आराधनासे दर्शन होते हैं, किसीको विना आराधना ही हो जाते है यह कह नहीं सकते, क्योंकि परमेश्वर सबको समान दृष्टिसे देखता है, वह दर्शन देनेके विषयमें ऐसी विषमता नहीं कर सकता।

और उक्त उपास्य स्वरूप यदि ब्रह्म हैं तो ब्रह्म–दर्शनका जो फल श्रुतिने कहा है कि "(भिद्यते हृदय–ग्रन्थिः) हृदयकी अविद्या–ग्रन्थि नष्ट होजाती है, सर्व संशय दूर होजाते हैं, कर्म–क्षय होजाता है" इसका लाभ राम–कृष्णादि स्वरूपोंके सभी दर्शकोंको होना चाहिये, परन्तु इसके विपरीत राम–कृष्णादि स्वरूपोंके साथ अनेक देव दैत्योंने द्वेष किया, युद्ध किया यह सुना जाता है । यदि ये ब्रह्म होते तो इनका दर्शन करते ही द्वेष्टाओंका द्वेष नष्ट होकर मोक्ष हो जाता । अतः इनको ब्रह्म–भिन्न और आविद्यक ही मानना उचित है ।

सिद्धान्ती—उपास्य स्वरूपोंके दर्शन होनेमें भक्ति और भगवदिच्छा ये दो कारण

हैं । भक्तिके विषयमें **'अपि संराधने'** **'भक्त्या त्वनन्यया शक्य'** इत्यादि प्रमाण प्रथम दिखा दिये हैं, और भगवदिच्छाके विषयमें भी **'मनीषिताऽनुभावोऽयम्'** यह वचन प्रथम कहा है । इस भगवदिच्छासे ही अवतारके समयमें शत्रु, मित्र, उदासीन आदि सर्व साधारणको भगवान्के दर्शन होते हैं, परन्तु भक्तोंको तो अवतार–दशामें भी भक्तिसे ही होते हैं, क्योंकि इन्हींके भक्तिके वश होकर भगवान् लोकमें प्रकट होते हैं । और सर्व–साधारणको दर्शन देनेमें कारण भक्त भी हैं, क्योंकि इस लोकमें सब लोगोंके समक्ष इनको दर्शन देकर आनन्दित करनेकी इच्छासे ही भगवान् लोकमें प्रकट होते हैं । यदि इस प्रकार स्वरूपानन्दका अनुभव न कराना हो तो अवतार–तिरोधान–दशामें जैसे कराया जाता है वैसे ही करा सकते हैं । और सर्व–साधारणको दर्शन होनेपर भी दर्शनके वास्तविक फलका लाभ जो भक्तोंको ही होता है और अन्य लोगोंको नहीं होता इसमें भी कारण भगवान्की इच्छा ही है । और यह स्थावर-जङ्गमात्मक संपूर्ण जगत् भगवत्स्वरूप है, इसलिये दर्शन या दर्शनके फलमें भेद–होनेपर भी विषमता भगवान्को स्पर्श नहीं करती, क्योंकि विषमता जहाँ भेद होता है वहीं मानी जाती है ।

इसके अतिरिक्त प्रपञ्च–रचना परमात्माने लीलाके लिये की है, अतः लीलाका जिससे बाध न हो ऐसे चरित्रको आप प्रकाशित करते हैं । यदि अलौकिक स्वरूपका परिचय देकर सभी दर्शकोंके मोहको नष्ट कर दें तो सभीका मोक्ष होजानेसे लीला नहीं होसकती । इसी कारण भगवान् कभी २ लौकिक लीलाका भी अनुसरण करते हैं । अतः ऐसे चरित्रोंके कारण राम–कृष्णादि–स्वरूपोंको आविद्यक, और अब्रह्म कहना अत्यन्त ही अनुचित है ।

ब्रह्ममें परस्पर विरुद्ध सभी धर्म

(३५) **पूर्वपक्षी**—शास्त्रोंमें, ब्रह्म एकरस–सर्वदा समान–स्वरूप–रहता है ऐसा कहा है और उक्त अवतार तथा सूत्रोक्त उपास्य स्वरूप इससे सर्वथा विरुद्ध हैं । कोई अवतार मानवाकृति है, कोई सूकराकृति है, कोई कच्छपाकृति है । और सूत्रोक्त उपास्य स्वरूपोंमें भी आदित्यान्तर्गत हिरण्मय पुरुषका जैसा स्वरूप है वैसा अक्षिपुरुषका नहीं है, और जैसा अक्षिपुरुषका है वैसा वैश्वानरका नहीं है—ऐसे सभी उपास्य स्वरूप परस्पर विलक्षण हैं । ये एक अद्वितीय एकरस ब्रह्मके ऐसे अनेक स्वरूप किसी भी प्रकार वास्तविक नहीं होसकते । अतः इनको आविद्यक मानना ही ठीक है ।

सिद्धान्ती—जो शास्त्र ब्रह्मको एक, एकरस, अद्वितीय बताते हैं, वे ही "उक्त अवतार ब्रह्म–स्वरूप हैं" यह भी कहते हैं । अतः जैसा शास्त्र कहें वैसा स्वीकार करना

चाहिये, क्योंकि ब्रह्मका स्वरूप केवल शास्त्रोंसे ही मालूम होता है, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंकी तो ब्रह्म पर्यन्त गति ही नहीं है। अत एव उक्त लौकिक तर्कोंका ब्रह्मके स्वरूप-निर्णयमें उपयोग नहीं होसकता।

और गीतामें स्वयं भगवान्ने ही **'सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' 'सर्वेन्द्रिय-गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'** इत्यादि वचनोंसे ब्रह्मके स्वरूपमें सर्वत्र कर-चरणादि इन्द्रिय और उनके परिच्छेदका होना बताया है, तथा सर्व इन्द्रिय और उनके विषयभूत गुणोंके स्वरूपसे स्वयं ब्रह्म ही परिणत होता है यह भी कहा है। अतः इनके अनुसार अवतारोंको ब्रह्म-स्वरूप ही मानना उचित है।

पूर्वपक्षी—'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्' इस पदसे यद्यपि भगवान्ने ब्रह्म-स्वरूपमें सर्वेन्द्रियोंकी सत्ता स्वीकार की है, परन्तु **'सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्'** इस अग्रिम पदसे पुनः उसका निषेध किया है। यदि इन्द्रिय-सत्ता वास्तविक मानी जाय तो यह पूर्वापर विरोध है। इसी प्रकार **'सर्वतः पाणिपादान्तम्'** इससे प्रमाणित हुआ परिच्छेद वास्तविक माना जाय तो ब्रह्मको व्यापक कहनेवाली श्रुतियोंका विरोध है। और ऐसे परस्पर-विरुद्ध धर्मोंको एक ही ब्रह्ममें दृष्टान्त न होनेसे किसी भी प्रकार स्वीकार कर नहीं सकते। अतः इस विरोधके परिहारके लिये इन्द्रिय, परिच्छेद इत्यादि विशेषोंको मायिक ही मानना चाहिये। और **'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'** यह 'आभास' शब्द भी "ब्रह्मके स्वरूपमें इन्द्रिय और गुणोंका आभासमात्र है (प्रतीतिमात्र है) वस्तुतः वे हैं नहीं" इस आशयका बोध कराता हुआ उक्त विशेषोंकी मायिकता ही का समर्थन करता है।

सिद्धान्ती—'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' इसका यह अर्थ नहीं कि ब्रह्म इन्द्रियोंसे रहित है, किन्तु जीवोंके सदृश ब्रह्मके अपने स्वरूपसे भिन्न प्राकृत इन्द्रिय नहीं हैं यह अर्थ है, क्योंकि इससे पूर्व **'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'**इस पदसे ब्रह्ममें इन्द्रियोंकी सत्ताका बोध कराया है।

तुमने जो इस पदका यह अर्थ माना है कि ब्रह्म-स्वरूपमें इन्द्रियोंका आभासमात्र है, वस्तुतः ब्रह्म सर्वेन्द्रिय-रहित है, यह तो सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि इसमें, ब्रह्मके अप्राकृत इन्द्रियोंका बोध करानेवाली **'सर्वतःपाणिपादान्तम्'** इस पूर्वोक्त श्रुतिका विरोध है। अतः इसका यही अर्थ मानना ठीक है कि इन्द्रिय और इनके विषय-भूत गुणोंके स्वरूपसे ब्रह्म ही भासमान होता है।

यद्यपि व्यापकत्व और परिच्छेद लोक-दृष्टिसे परस्पर विरुद्ध हैं, परन्तु ब्रह्मका स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि उसमें सभी विरुद्धोंका समावेश होजाता है। अत एव

भागवतमें दामोदरलीलाके प्रसङ्गमें श्रीकृष्णके स्वरूपका वर्णन करते हुए शुकाचार्यजीने **'न चान्तर्न वहिर्यस्य' 'गोपिकोलूखले दाम्ना ववन्ध प्राकृतं यथा'** इत्यादि श्लोकोंके द्वारा यह कहा कि जो जगत्के बाहर भीतर पूर्वापर अर्थात् सर्वत्र और सर्वदा विद्यमान रहता है और जो प्रपञ्च-स्वरूप भी है ऐसे अव्यक्त और इन्द्रियागोचर ब्रह्मको गोपिकाने अपना पुत्र समझकर रज्जुसे उलूखल पर बाँधा, जैसे कि किसी प्राकृत मनुष्यकों बाँधते हैं। यदि श्रीकृष्णके उस छोटेसे स्वरूपमें व्यापकता या ब्रह्मत्व न होता तो उसको प्रपञ्चके बाहर भीतर सर्वत्र विद्यमान तथा अव्यक्त और इन्द्रियागोचर कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। और इसके अनन्तर भी **'द्व्यङ्गुलोनमभूत्तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका'** इस श्लोकसे, पुनः २ अन्य रज्जुका सन्धान करनेपर भी बन्धनरज्जु दो अङ्गुल न्यून रही यह कह कर श्रीकृष्णके उस परिच्छिन्न स्वरूपकी व्यापकता और पूर्णता प्रमाणित की है। अतः ब्रह्मके स्वरूपमें व्यापकताका और परिच्छेदका विरोध बताना सर्वथा निःसार है।

(३९) **पूर्वपक्षी—'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्'** इस वचनमें जैसे प्राकृत इन्द्रियोंके निषेधकी और अप्राकृत इन्द्रियोंके विधानकी कल्पना करते हो, ऐसे ही सर्वत्र परस्पर-विरुद्ध श्रुति-स्मृति-वचनोंमें प्राकृत धर्मोंके निषेध की और अप्राकृत धर्मोंके विधानकी कल्पना करना तुमको आवश्यक है इसलिये इसमें व्यर्थका विस्तार होजाता है। और फिर भी यह किसी प्रकार कर लीजाय, परन्तु इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है। अतः इस कल्पनाकी अपेक्षा तो 'उपजीव्यत्वतः' इस कारिकोक्त न्यायसे सर्वत्र धर्मनिषेधिका श्रुतियोंमें सभी धर्मोंका निषेध मान कर इसके अनुसार श्रीकृष्णादि सधर्मक स्वरूपोंको मायिक ही मानना ठीक है। और दशम स्कन्धके दामोदरलीला, मृत्स्ना-भक्षण आदि प्रसङ्गोंके वर्णन तो केवल मायिक-विचित्रताके बोधक हैं इसलिये इनसे ब्रह्म विरुद्ध धर्मोंका आधार है यह सिद्ध नहीं होसकता।

(३७) **सिद्धान्ती—**श्रुतियोमें प्राकृत धर्मोंका निषेध है और अप्राकृत धर्मोंका विधान है इस विषयको **'प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति'** इस व्याससूत्रसे प्रथम सिद्ध कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त **'तदरूपमनामयम्'** इस श्रुतिमें ब्रह्मको अरूप कहते हुए साथ ही अनामय (रोग-रहित) भी कहा है और आमयका (रोगका) सम्बन्ध प्राकृत रूपके साथ ही रहता है। अतः इससे भी यही निश्चय होता है कि प्रकृत श्रुतिमें तथा अन्यत्र भी प्राकृत रूप ही का निषेध है, अप्राकृतका नहीं है। और यदि अप्राकृतका निषेध होता तो **'सर्वतःपाणिपादान्तम्'** इस श्रुतिने जैसे कहा कि ब्रह्म सर्वतःपाणिपाद है, ऐसे ही किसी श्रुतिके द्वारा ऐसा निषेध होना चाहिये था कि ब्रह्म

सर्वतःपाणिपाद नहीं है । इसी प्रकार सर्वकामत्व, सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंका भी विधानकी आनुपूर्वीसे निषेध होना आवश्यक था, परन्तु ऐसा किसी श्रुतिमें नहीं देखा गया । अतः निषेधक वचनोंमें प्राकृत रूप और प्राकृत धर्मोंका ही निषेध मानना उचित है ।

और लौकिक रूप–धर्मोंके समान ब्रह्मके रूप–धर्म ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं और इनका निरूपण करनेवाले प्रमाण वचन भी साक्षात् ब्रह्मका ही निरूपण करनेवाले हैं, इसलिये सगुण निर्गुण कहनेवाले वचनोंमेंसे किसी एक पक्षके वचनोंको प्रबल या निर्बल प्रमाणित करनेमें 'उपजीव्यत्वतः' इस कारिकोक्त न्यायका उपयोग नहीं होसकता ।

परब्रह्मकी लीला वास्तविक हैं।

(३५–३९) और यह भी कहना केवल अज्ञान–मूलक है कि श्रीकृष्णकी दामोदरलीला और मृत्स्ना–भक्षण–लीला मायिकी थी–अर्थात् बन्धनरज्जुका दो अङ्गुल न्यून होना तथा छोटेसे मुखमें संपूर्ण विश्वकी स्थिति यह वस्तुदृष्टिसे कुछ नहीं था, केवल मायासे दृष्टि–गोचर हुआ, क्योंकि मृत्साभक्षण लीलाके प्रसङ्गमें स्वयं यशोदाजीने ही **'बत बुद्धि–मोहः' 'उत देवमाया'** आदि पदोंके द्वारा भ्रम, मायिकता आदि असत् प्रतीतियोंकी आशङ्काका उपन्यास कर, अन्तमें **'अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः'** इस श्लोकके द्वारा यह अपना निश्चित सिद्धान्त बताया कि मेरे इस बालकका ही कोई ऐसा स्वतः–सिद्ध सामर्थ्य है जिसके प्रभावसे मैं इसके छोटे–से मुखारविन्दमें संपूर्ण विश्वका दर्शन करती हूँ । अतः इससे विरुद्ध, मायिकताकी कल्पना नहीं कर सकते ।

(४०) और तुम्हारी अभिमत माया जड है इसलिये वह स्वयं तो ऐसी विचित्र घटना दिखा नहीं सकती । यदि उसकी सहायतासे ईश्वर दिखाता है तो वह दिखानेवाला ईश्वर ही नहीं है, क्योंकि ईश्वर स्वयं सर्वकार्योंके करनेमें समर्थ है, उसे किसी भी कार्यके लिये सहायक या साधनकी आवश्यकता नहीं होसकती ।

यदि यह कहा जाय कि श्रीकृष्णने अपने सामर्थ्यसे उक्त दोनों लीला दिखाईं, परन्तु ऐन्द्रजालिकके समान असत्य ही दिखाईं तो, यह भी मान्य नहीं होसकता, क्योंकि असत् वस्तु वह दिखाता है जो कि सत् वस्तुके प्रदर्शनमें समर्थ न हो । श्रीकृष्ण ईश्वर है, सर्व–समर्थ है वह क्यों असद् वस्तु दिखावेगा ? । और कदाचित् असत् वस्तु दिखाता भी है, परन्तु आसुर जीवोंको, जिनके ज्ञानको वह मोहसे आवृत करना चाहता है, न कि यशोदा–सदृश परम–प्रिय भगवद्भक्तोंको । अतः उक्त दोनों लीलाओंको किसी प्रकार असत् नहीं कह सकते । अत एव इनके अनुसार श्रीकृष्णके स्वरूपको शुद्ध–ब्रह्म और विरुद्ध–धर्माधार मानना भी आवश्यक है ।

केवल एक ही क्रियाका व्यवहर्ता लोगोंके बुद्धि–भेदसे निष्क्रमण, प्रवेश आदि भिन्न २ शब्दोंसे व्यवहार होता है। अतः पुरुष–दृष्टान्तसे ब्रह्मको विरुद्ध–धर्माऽधार कहना अयोग्य है।

सिद्धान्ती—विरुद्धधर्माऽऽधारताके लिये जो दृष्टान्त दिखाया है इसको असङ्गत नहीं कह सकते, क्योंकि पुरुषकी एक ही क्रियामें निष्क्रमणत्व, प्रवेशत्व इन दोनों धर्मोंका पृथक् २ सब मनुष्योंको स्पष्ट अनुभव होता है। लोकमें निष्क्रामति, प्रविशति इत्यादि भिन्न २ शब्दोंका उक्त दोनों धर्मोंके बोधके विषयमें उपयोग किया जाता है। यदि दोनों धर्मोंमें भेद न होता तो प्रत्येक धर्मके विषयमें पर्यायसे दोनोंका प्रयोग होता।

और लौकिक परीक्षकोंका दोनोंको भिन्न समझना भ्रम है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रमका कुछ समयके अनन्तर बाध देखा जाता है, यदि यह भ्रम होता तो इसका भी बाध होता। अतः आपेक्षिक होनेपर भी जैसे परत्व, अपरत्व भिन्न माने जाते हैं, ऐसे ही इनको भी भिन्न मानना चाहिये। अत एव विरुद्धधर्माधारताके लिये इसका दृष्टान्त देना अयोग्य नहीं है। और दृष्टान्तकी कोई आवश्यकता नहीं है यह भी हम प्रथम सिद्ध कर चुके हैं, इसलिये ब्रह्मको विरुद्ध धर्माधार सिद्ध करनेमें केवल प्रमाणोंको ही पर्याप्त मानना ठीक है।

(३८) और दामोदरलीला आदि पूर्वोक्त प्रसङ्गोंके अतिरिक्त रासलीलामें भी **‘आत्मारामोऽप्यरीरमत्’** इत्यादि वचनोंसे भगवान् शुकाचार्यने परब्रह्म श्रीकृष्णको विरुद्ध धर्माधार बताया है। भागवत आदि पुराणोंके अनुसार वर्णन करनेवाले परमभक्त जयदेवने भी गीतगोविन्दमें **‘तन्न वेद्मि कुतो गताऽसि’** इस पदसे सर्वज्ञ श्रीकृष्णके अज्ञतानाटनका उपन्यास कर विरुद्धधर्माधारता प्रमाणित की है। ऐसे और भी अनेक श्रुति, स्मृति, पुराण, भक्तानुभव ब्रह्मकी विरुद्ध धर्माधारताको प्रमाणित करते हैं। इसलिये एक केवल दृष्टान्तके कुछ शैथिल्यसे इतने प्रमाणोंका अनादर भी नहीं कर सकते। और पुराण वेदोंके व्याख्यारूप हैं, वेदोक्त सन्दिग्ध विषयोंका इनके द्वारा स्पष्टीकरण होता है। अतः श्रीमद्भागवतोक्त अर्थमें किसी प्रकारका संशय भी नहीं होसकता।

लीलाका स्वरूप।

(४१) **पूर्वपक्षी**—तुम्हारे मतके अनुसार श्रीकृष्णकी कामात्मक रासादिलीला वास्तविक नहीं होसकती, क्योंकि श्रीकृष्णको तुम परिपूर्ण, ज्ञानैकघन, परमानन्द स्वरूप, पर ब्रह्म मानते हो और जो परिपूर्ण है ज्ञानैकघन है जिसे किसीकी भी इच्छा

नहीं है वह तुच्छ विषयानन्दकी लालसा रखनेवाले अज्ञ कामुक लोगोंकी अभिप्रेत ऐसी अयोग्य लीलाको नहीं कर सकता । और **'तन्न वेद्मि कुतो गताऽसि'** इत्यादि वचनोंसे अपनी अज्ञता प्रकट करना भी संभव नहीं है । इसके अतिरिक्त परमानन्द–स्वरूपके साथ विरहमें होनेवाले विलाप, सन्ताप, मूर्छा आदि चित्त–विकारोंका भी सम्बन्ध नहीं होसकता । अतः इस लीलाको केवल अनुकरणमात्र ही मानना उचित है, वास्तविक मान कर इस प्रसङ्गके वचनोंको ब्रह्मकी विरुद्धधर्माधारतामें प्रमाण बताना सर्वथा अयोग्य है ।

सिद्धान्ती—उक्त लीलाको वास्तविक माननेसे पर ब्रह्म श्रीकृष्णके ज्ञानैकघनत्व या परिपूर्णताका भङ्ग नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म विरुद्धधर्माऽऽधार है । इसके अतिरिक्त **'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' 'रसो वै सः'** इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मको सब आनन्दोंका मूलभूत रस और रसवान् कहती हैं और सब रसोंमें मुख्य शृङ्गार रस है, इसलिये ब्रह्म शृङ्गाररस–स्वरूप तथा शृङ्गाररसका आधार है यह मानना सर्वथा आवश्यक है । और रस रस–शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार नायक, नायिका, चन्द्र, चन्दन आदि विभाव तथा स्वर–भङ्ग, कम्प, मूर्छा आदि अनुभाव और उत्कण्ठा आदि सञ्चारिभाव ये सब जब एकत्रित होते हैं तब प्रकट होता है अतः । ब्रह्मकी शृङ्गाररसाधारताके निर्वाहके लिये इनकी स्थिति ब्रह्ममें स्वीकार करना आवश्यक है । और तुमने जो सन्ताप, विलाप आदि विरह–क्लेश बताये हैं उनका भी इन्हीं अनुभावोंमें और सञ्चारिभावोंमें अन्तर्भाव है इसलिये उनका आधार ब्रह्म है यह भी मानना स्वतः प्राप्त है ।

ब्रह्मात्मक रसका स्वरूप ।

पूर्वपक्षी—वेदमें जहाँ ब्रह्मके लिये 'रस' शब्दका प्रयोग किया गया है वहाँ 'रस' शब्दका केवल आनन्द अर्थ है, क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद्की **'रसो वै सः'** इस श्रुतिमें प्रथम ब्रह्मको रस कह कर अनन्तर **'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'** इस श्रुतिसे पूर्वोक्त रस शब्दका आनन्द अर्थ ही बताया है । अतः विभावानुभाव–व्यभिचारियोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले लौकिक रसके सदृश ब्रह्मको रस मानना, अथवा ऐसे रसका आधार स्वीकार करना उचित नहीं ।

और फिर भी किसी प्रकार श्रीकृष्णको रस–स्वरूप मान लें, परन्तु रस गुप्त है, हृदयमें रहता है, और श्रीकृष्णका तो बाह्य प्रदेशमें चाक्षुष दर्शन स्वीकार करते हो । अतः उपर्युक्तानुसार 'रस' शब्दका केवल आनन्दमय ही अर्थ मानना ठीक है ।

सिद्धान्ती—**'रसो वै सः'** इस श्रुतिमें 'रस' शब्दका अर्थ आनन्द ही है, परन्तु **'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्'** इत्यादि श्रुतियोंने उस आनन्दकी व्याख्या इस प्रकार की

है कि "जो प्राण-धारणका कारण है, जो सबको आनन्दित करता है, जो हृदयमें रहता है, सब आनन्द जिसके अंश हैं, कार्य-स्वरूप हैं।" इस व्याख्यासे यह निश्चित होता है कि शृङ्गारादि-रस-स्वरूप लौकिक आनन्द और ब्रह्माऽऽनन्दमें पूर्ण साम्य है, क्योंकि लोकमें अंश अंशी और कार्य कारणोंका साम्य देखा गया है। अतः कार्य-स्वरूप और अंश-स्वरूप इस रसानन्दमें यदि विभाव-अनुभाव-संचारिभावोंके सम्बन्धका अनुभव होता है तो इसे अलौकिक ब्रह्मानन्दमें भी स्वीकार करना चाहिये। और श्रीकृष्ण-स्वरूपका यद्यपि भक्तोंको बाह्य प्रदेशमें दर्शन होता है, तथापि **'स मानसीन आत्मा जनानाम्'** इस श्रुतिके अनुरोधसे इसे हृदयस्थ मानना भी आवश्यक ही है।

पूर्वपक्षी—श्रीकृष्णका स्वरूप यदि एक ही है तो उसकी एक ही समयमें हृदय और बाह्य प्रदेश इन दोनों स्थानोमें स्थिति नहीं हो सकती, इसलिये दोनोंमेंसे किसी एक स्थानके स्वरूपको भ्रान्ति कल्पित मानना आवश्यक है। यदि श्रीकृष्णके अनेक स्वरूप हैं तो जो स्वरूप हृदयस्थ है उसको गुप्त होनेसे रस-स्वरूप मान सकते हैं, परन्तु जो स्वरूप बाह्य प्रदेशमें है उसे प्रकट होनेसे रस-स्वरूप नहीं मान सकते।

और रसके शृङ्गार, वीर, करुणा आदि अनेक भेद हैं, यदि श्रीकृष्ण रस-स्वरूप माना जाय तो इसके भी अनेक भेद मानने होंगे। और रस अनित्य होनेसे श्रीकृष्ण-स्वरूपका नित्यत्व भी लुप्त होजायगा। अतः श्रीकृष्णको रस-स्वरूप मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं होसकता।

सिद्धान्ती—श्रीकृष्णका जो स्वरूप बाह्य प्रदेशमें प्रकट है वही हृदयस्थ भी है, क्योंकि उसकी अभिव्यञ्जिका प्रेम-लक्षणा भक्ति हृदयका धर्म होनेसे हृदयमें रहती है इसलिये उस अभिव्यङ्ग्य स्वरूपका भी हृदयमें रहना ही उचित है। लोकमें अभिव्यङ्ग्य और अभिव्यञ्जककी स्थिति एक आधारमें पाई जाती है।

और **'अनन्तरूपम्'** इत्यादि श्रुतियाँ श्रीकृष्णको अनन्तरूप कहती हैं, इसलिये तत्स्वरूपरसका भी शृङ्गार, वीर आदि भेदोंसे अनेक-रूप होना योग्य ही है।

और अनित्य तो जगत्में रस क्या? कोई भी वस्तु नहीं है, केवल आविर्भाव-तिरोभावोंके कारण अनित्यताका भ्रम होता है। अतः ब्रह्मको रस कहनेसे उसके नित्यत्वका विघात नहीं होसकता, प्रत्युत ब्रह्मका नित्यत्व अनेक-प्रमाणसिद्ध है इसलिये ब्रह्मको रस कहना, रस के ही नित्यत्वका समर्थन करता है।

पूर्वपक्षी—प्रकृतमें श्रीकृष्णको रसात्मक कहनेका मूल आशय शृङ्गाररसात्मक कहना है और शृङ्गाररस परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुषात्मक दो आलम्बनोंके विना

अपनी स्थिति रख नहीं सकता । अतः श्रीकृष्ण यदि शृङ्गाररस–स्वरूप है तो इसके दो आलम्बन भी बताने चाहिये ।

इसके अतिरिक्त प्रथम जो शृङ्गाररसका आधार और शृङ्गाररस–स्वरूप श्रीकृष्ण है यह कहा था, इसमें भी कोई एक ही पक्ष वास्तविक हो सकता है, क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध हैं ।

सिद्धान्ती—भगवान्का रत्याख्यस्थायिभाव, भगवान्से भिन्न नहीं है, क्योंकि अद्वैत–श्रुतिके अनुरोधसे ब्रह्मके धर्म ब्रह्मात्मक ही माने गये हैं । और ब्रज–सुन्दरियोंके भावके अनुसार भगवान् अपने स्वरूपका परिचय देते हैं, इससे भी यही निश्चित होता है कि ब्रजसुन्दरियोंके रत्याख्यस्थायिभाव–स्वरूप भगवान् ही हैं । अत एव भगवान्को रस–स्वरूप मानना आवश्यक है, क्योंकि रत्याख्यस्थायिभाव ही शृङ्गार रस है । और जैसे लौकिक रसके दो आलम्बन होते हैं, ऐसे ही इसके भी दो आलम्बन हैं, एक तो स्वयं भगवान् ही हैं और दूसरा आलम्बन ब्रज–सुन्दरियाँ है ।

यद्यपि लोकमें रस और रसवान् दो स्वतन्त्र भिन्न पदार्थ देखे जाते हैं, तथापि उपर्युक्त रीतिके अनुसार केवल श्रीकृष्णको ही रस और रसवान् कहनेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं होसकती, क्योंकि यह **'रसो वै सः' 'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः'** इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध है । ऐसे ही रसशास्त्रकी मर्यादाके अनुसार और भी साधन, जो कि लौकिक रसके साथ सम्बन्ध रखते हैं, वे सभी इस ब्रह्मात्मक रसके साथ भी सम्बद्ध हैं, क्योंकि जब तक सब साधनोंसे रत्याख्य स्थायि–भाव पुष्ट नहीं होता तब तक उसमें रस कहलानेकी योग्यता नहीं होती ।

और **'अहं भक्तपराधीनः'** इत्यादि श्लोकोंसे जो भगवान्ने दुर्वासाको यह कहा कि "मैं भक्तोंके अधीन हूं, जैसे उत्तम–स्त्रियां प्रेमसे अपने शुद्ध–हृदय पतिको वश कर लेती हैं, इसी प्रकार भक्त मुझे वश कर लेते हैं ।" इससे भी यही प्रमाणित होता है कि भगवान् रसवान् और रस–स्वरूप हैं, क्योंकि यदि भगवान् भक्तोंके वश हैं तो अवश्य ही **'स्त्रियो वा पुरुषो वाऽपि भर्तृभावेन केशवम्'** (अर्थ–जो स्त्री वा पुरुष पतिभावसे भगवानकी सेवा करता है) इत्यादि वचनोंके अनुसार जो भक्त शृङ्गार–रसात्मक–गोपीभावसे भजन करेंगे उनको भगवान् भी भावाधीन होकर अपना प्रियतम–रूपसें परिचय देंगे । और यहां यह भी नहीं कह सकते कि यह प्रियतम–भावका अभिनयमात्र है, क्योंकि शुद्धभावसे भजन करनेवाले भक्तोंके साथ भगवानका कपटभावसे व्यवहार करना संभव नहीं है । और **'अहं भक्तपराधीनः'** इस श्लोकके दृष्टान्तमें **'सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा'** यह 'पति'शब्दके साथ भी जो 'सत्' शब्दका प्रयोग

किया गया है, इसी आशयको प्रकाशित करता है। यहां 'सत्' पदसे ऐसे पतिका निर्देश किया गया है जो कि अपनी साध्वी स्त्रीके प्रेमका हृदयसे आदर करता हो, न कि केवल बाह्य अभिनयसे। अतः इस दृष्टान्तके अनुगुण भक्तोंके विषयमें भगवान्का भाव भी वास्तविक ही होसकता है, अभिनय नहीं होसकता।

यद्यपि सर्वसमर्थ ईश्वरका किसीके अधीन होजाना उसकी स्वरूप–मर्यादासे पर है, तथाऽपि अपनी स्वरूप–मर्यादासे अधिक दूर चला जाना, यह भी किसी अनीश्वरका कार्य नहीं होसकता। राजा लोग यद्यपि कदाचित् किसीके प्रेममें पराधीन होजाते हैं, परन्तु अपने आत्मापर कुछ भार आते ही प्रेमीके प्रेमबन्धनसे अपने आत्माको मुक्त कर लेते हैं, किन्तु अनेक–कोटि–ब्रह्माण्ड–नायक ईश्वर तुच्छ जीवके प्रेमपाशसे ऐसा बद्ध होजाता है कि फिर कभी भी मुक्त नहीं होता। यह कुछ साधारण महिमाका विषय नहीं है। इसी असाधारण स्वरूपमर्यादात्यागका **'श्रान्तो गजीमिरिभराडिव भिन्नसेतुः'** इस श्लोकमें 'भिन्नसेतु' शब्दसे परिचय दिया है और यही परमात्माका रसघन पुष्टिमार्गीय स्वरूप है।

ब्रह्म सशरीर है या अशरीर।

(४२) **पूर्वपक्षी**—उपर्युक्त लीलाओंका होना तभी संभव है जब कि परमात्मा शरीरी हो, किन्तु परमात्माको शास्त्रोंमें अशरीरी कहा है, क्योंकि शरीरलाभ पूर्वोपार्जित कर्मोंके प्रभावसे होता है। और परमात्माके साथ कर्मोंका संबन्ध नहीं है। यदि किसी समय धर्म–रक्षाके लिये अवतार लेता है तो जीवोंके पुण्यसे बने हुए शरीरमें प्रेतके समान आविष्ट होजाता है और अपना कर्त्तव्य समाप्त होते ही उस शरीरका त्याग कर देता है, परन्तु ऐसा कोई नित्य–सिद्ध शरीर परमात्माका नहीं है जिससे भक्तोंके भावके अनुकूल किसी भी समयमें उपर्युक्त लीलाओंको दिखा सके। अतः इस लीला–वर्णनको अवास्तविक ही मानना चाहिये।

सिद्धान्ती—जैसे विना शरीर ईश्वर उपर्युक्त लीलाओंको नहीं दिखा सकता, वैसे ही सृष्टि–रचना भी नहीं कर सकता, फिर ईश्वरको जगत्कर्ता क्यों मानते हो?। यदि यह जगत् उत्पत्ति–शाली है और इसकी रचना विना ईश्वर अन्यसे नहीं होसकती इसलिये ईश्वरको कर्ता बताते हो तो कर्तृत्वोपयोगी नित्यज्ञान, नित्यइच्छा और नित्यप्रयत्नकी सत्ताको जैसे ईश्वरमें स्वीकार करते हो, ऐसे ही शरीरसत्ताको भी स्वीकार करो, क्योंकि इसका भी कर्तृत्वमें उपयोग है। लोकमें जितने कर्त्ता देखे जाते हैं, सभी शरीरी हैं, इसलिये ईश्वर यदि कर्त्ता है तो इसका भी शरीरी होना आवश्यक है।

पूर्वपक्षी—यद्यपि लोकमें सभी कर्त्ता शरीरी हैं, किन्तु शरीर और कर्त्तृत्वका केवल

साहचर्य (साथ) है, परस्पर कार्यकारणभाव आदि कोई ऐसा असाधारण संबन्ध नहीं है जिससे प्रत्येक कर्ताको शरीरी मानना आवश्यक हो । कर्तृत्वके साथ तो केवल ज्ञान–इच्छा–प्रयत्नोंका ऐसा असाधारण सम्बन्ध है कि प्रत्येक कर्तामें इनके स्वीकार करनेकी आवश्यकता होती है । यदि केवल साहचर्यसे ही पदार्थ अन्य पदार्थकी सत्ताका अनुमान करा सकता हो तो घट, पट आदि अनेक जन्य (उत्पन्नहोनेवाले) पदार्थोंमें जन्यता (उत्पत्ति) और रूपका साहचर्य देखा है, फिर जैसे केवल जन्यताका अनित्यत्वके अनुमानमें उपयोग करते हो, ऐसे ही रूप–सहित जन्यताका भी क्यों नहीं करते ?, क्योंकि जिनका साहचर्य तुमने देखा है उनमें एकके अभावमें दूसरेकी सत्ताको तो स्वीकार करते ही नहीं ।

यदि यह कहते हो कि वायुमें जन्यता रहती है, परन्तु रूप नहीं रहता, इसलिये वायुगत अनित्यत्वके अनुमानमें बाधा आती है, तब तो हमारे पूर्वोक्त–कथनानुसार असाधारण सम्बन्ध जिसे कि व्याप्ति कहते हैं, उसीका पदार्थ–सत्ताके अनुमानमें उपयोग करो । कर्तृत्व और शरीरका ऐसा असाधारण सम्बन्ध नहीं है, इसलिये जगत्कर्त्ता ईश्वरको शरीरी माननेकी आवश्यकता नहीं ।

और व्यवहारमें जो सभी कर्ता शरीरी ही दृष्टिगोचर होते हैं, इसका कारण तो एक यह भी है कि जीव असमर्थ है, यह केवल प्रयत्नसे ही किसी कार्यको संपादन नहीं कर सकता, इसे तो शारीरिक परिश्रम भी करना पडता है, अत एव इसके प्रायः प्रत्येक कार्यमें शरीरकी सहायता अपेक्षित है, परन्तु सर्वसमर्थ ईश्वर तो केवल प्रयत्नसे ही सर्वकार्य–संपादन कर सकता है इसलिये उसको शरीरकी आवश्यकता नहीं होसकती । यदि किसी प्रकार ईश्वरका शरीर स्वीकार कर भी लिया जाय, तथापि शरीरका स्वरूप लोकातीत तो मान ही नहीं सकते, जैसा हम लोगोंका-शरीर है ऐसा परिच्छिन्न ही मानना होगा । यदि ऐसा ही माना तो 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' लाभ कुछ नही, क्योंकि ऐसे परिच्छिन्न शरीरसे जगद्रचना जैसा व्यापक कार्य नहीं होसकता । अतः ऐसे शरीरकी अपेक्षा तो शरीरका न स्वीकार करना ही ठीक है ।

सिद्धान्ती—जैसे कोई भी कर्ता ज्ञान–इच्छा–प्रयत्नोंसे शून्य दृष्टिगोचर नहीं होता, इसलिये कर्तृत्वके साथ इनकी व्याप्ति मानते हो, ऐसे ही कोई कर्ता शरीर–विहीन भी दृष्टि–गोचर नहीं होता, फिर शरीरकी भी कर्तृत्वके साथ क्यों न व्याप्ति स्वीकार की जाय । और जगत्कर्ता ईश्वर क्यों न शरीरी माना जाय ? ।

यदि शरीर स्वीकार करनेकी आवश्यकता इसलिये नहीं है कि ईश्वर सर्व–समर्थ

है, विना भी शरीर केवल प्रयत्नसे ही सृष्टि-रचना कर सकता है, तब तो ईश्वरमें इच्छा और प्रयत्न भी क्यों माने जाँय, क्योंकि इनके विना केवल ज्ञानसे ही ईश्वर सृष्टि-रचना कर सकेगा। अतः सर्वसमर्थताके बहानेसे ईश्वरके शरीरका प्रत्याख्यान नहीं कर सकते।

यद्यपि सभी लौकिक कर्ताओंके शरीर परिच्छिन्न ही देखे जाते हैं, परन्तु जैसे लौकिक ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नोंके अनित्य होते हुए भी तुम ईश्वरके ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नोंको नित्य मानते हो, ऐसे ही उसके शरीरका स्वरूप भी वैसा मानो जैसेकी इस विशाल सृष्टि-रचनामें अपेक्षा है।

ब्रह्म सशरीर है, परन्तु अनुग्रहसे दृश्य है।

पूर्वपक्षी—यदि ईश्वरके ऐसा बडा शरीर है तो दृष्टिगोचर होना चाहिये, क्योंकि जिस वस्तुमें रूप और महत्परिमाण रहता है उसका अवश्य प्रत्यक्ष होता है।

सिद्धान्ती—यह नियम नहीं कि रूप और महत्परिमाणवाली वस्तुका अवश्य प्रत्यक्ष होता ही है, क्योंकि इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि सभी देव शरीरी हैं, परन्तु किसीका भी प्रत्यक्ष नहीं होता। जब कि देवोंका ही प्रत्यक्ष नहीं होता तो सब देवोंका देव जो परमात्मा है उसका प्रत्यक्ष कैसे होसकता है?। हाँ इतना अवश्य है कि यदि वह शास्त्रोक्त साधनोंके अनुष्ठानसे प्रसन्न होकर दर्शन देनेकी कृपा करता है तो दर्शन होता है। ऐसे ही इन्द्रादि-देवोंका भी दर्शन होता है। किन्तु यह दर्शन साधन-संपन्न इन्द्रियोंसे होता है, इसलिये लौकिक प्रत्यक्षके अन्तर्गत नहीं है। अतएव सभी कर्ता शरीरी हैं, इस नियमके भङ्गके लिये यह कहना भी व्यर्थ है कि अभिनव वृक्षाङ्कुरोंका कर्ता शरीरी नहीं है, क्योंकि उक्तानुसार केवल लौकिक प्रत्यक्षके न होनेसे ही शरीर-सत्ताका अभाव निश्चित नहीं होसकता।

और वस्तुतः देखा जाय तो ये आशङ्काएँ उत्पन्न ही नहीं होसकतीं कि परमात्माका शरीर नित्य है या अनित्य?, परिच्छिन्न (परिमित) है या अपरिच्छिन्न? (अपरिमित), प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष?, क्योंकि जो अनुमान परमात्माको जगत्का कर्ता कहता है वह जब तक परमात्माकी शरीर-सत्ताको प्रमाणित नहीं करेगा, तब तक तो इन आशङ्काओंको स्थान ही नहीं मिल सकता और प्रमाणित होनेके अनन्तर तो जगत्-कर्ताके लिये शरीर जैसा अपेक्षित है, नित्य अपरिच्छिन्न और लौकिक प्रत्यक्षोंसे अस्पृष्ट, वैसा सिद्ध हो ही चुका, फिर शङ्काओंसे कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होसकती। अतः ईश्वरको आनुमानिक-दृष्टिसें भी शरीरी माननेमें कोई बाधक नहीं है।

ईश्वर है या नहीं।

पूर्वपक्षी—उपर्युक्त कार्य-लिङ्गक अनुमानसे ईश्वर शरीरी तब प्रमाणित होगा जब कि प्रथम ईश्वर सिद्ध होजायगा, परन्तु उपर्युक्त अनुमानसे तो यही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इतना बडा जगन् किसीसे बन सकता है यही संभव नहीं है। यदि सावयव और मध्यम परिमाणवाले घट, पट आदि पदार्थ किसी न किसीके रचित ही दृष्टि-गोचर होते हैं, स्वयंभू कहीं नहीं पाये जाते, इसलिये सावयव वृक्ष, पर्वत आदि पदार्थोंको भी किसीके रचित मानना आवश्यक है तो इनके रचयिता अनेक माने जाँय, परन्तु किसी एकको रचयिता नहीं मान सकते, क्योंकि इस विशाल जगत्की अपेक्षा जो बहुत छोटे २ कार्य हैं—राजभवन-निर्म्माण, सरोवर-खनन आदि—इनमें भी सैंकडो मनुष्योंको निरन्तर परिश्रम करनेकी आवश्यकता होती है, तब फिर इस जगत्को किसी एक ही व्यक्तिने गढ दिया यह कैसे विश्वसनीय होसकता है।

सिद्धान्ती—इस जगत्के अनेक रचयिता कौन माने जांय?, क्योंकि जीवोंमे ऐसा सामर्थ्य दृष्टि-गोचर नहीं होता है इसलिये इनको तो मान नहीं सकते और एक ईश्वरका मानना ही आपको आपत्ति-जनक है तो अनेकेश्वर-कल्पना मानेंगे यह संभव नहीं।

पूर्वपक्षी—यद्यपि जीवोमें स्वयंसिद्ध कोई विलक्षण सामर्थ्य नहीं हैं, तथापि पुण्य-विशेषके प्रभावसे ऐसे सामर्थ्यका होना संभव है। अतः ऐसे लब्ध-सामर्थ्य अनेक जीवोंको ही जगत्के रचयिता मान लेना चाहिये। ईश्वरकी कोई अपेक्षा नहीं है।

सिद्धान्ती—अनेक जीवोंको जगत्-कर्ता माननेपर भी लोक-विरोध या व्यर्थ-विस्तार दोषका परिहार नहीं हुआ, क्योंकि अनेक जीव एकत्रित होकर भी आकाशमें निराधार रहते हुए पृथिवी-समुद्र-सदृश पदार्थोंकी कल्पना कर सकते हैं, इसके अनुकूल कोई लोकमें उदाहरण नहीं मिलता। और अनेक जीवोमें विलक्षण सामर्थ्य स्वीकार करना तो व्यर्थ विषयको बढाना है। और विलक्षण सामर्थ्य ही यदि स्वीकार करना है तो अनेकोमें न स्वीकार कर किसी एक ही में स्वीकार किया जाय, वही ईश्वर है।

और जहाँ अनेक कार्यकर्ता स्वतन्त्र होकर कार्य करते हैं—जिनपर कोई नियामक नहीं हैं—वहाँ किसी कार्यके ही होनेकी आशा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक कार्यको सभी अपने २ चित्ताऽनुसार ही करना चाहेंगे और उनमें मत-भेद न हो यह संभव नहीं। अतः एक चेतन ईश्वरको ही कर्ता मानना ठीक है।

ईश्वरकी दयालुता और न्याय-शीलता।

पूर्वपक्षी—ईश्वर सृष्टि-रचना करनेमें स्वतन्त्र है या जीव-कर्मोंसे पतरत्र है?।

यदि स्वतन्त्र है तो वह दयालु और न्याय–शील होकर भी निष्कारण जीवोंको दुःख देता है यह उचित नहीं। यदि परतन्त्र है तो हम उसे ईश्वर नहीं कह सकते।

सिद्धान्ती—दयालुता और न्याय–शीलताका उपयोग सदा दूसरेके ही लिये किया जाता है और दूसरेके ही लिये उपयोग न करनेपर मनुष्य दोषी समझा जाता है, इसलिये ईश्वर यदि अपने आत्म–स्वरूप जगत्के लिये दयालुता और न्यायशीलताका उपयोग न करे तो इससे दोषी प्रमाणित नहीं होसकता। यह सविस्तर प्रथम कह चुके हैं।

ईश्वरमें राग द्वेष आदि दोषोंकी संभावना।

पूर्वपक्षी—ईश्वर सृष्टि–रचना किसी प्रयोजनसे करता है या निष्प्रयोजन?। यदि प्रयोजनसे करता है तो शास्त्रोक्त आप्तकामताका (किसी बातकी इच्छा न होना) भङ्ग होगया। यदि निष्प्रयोजन करता है तो ईश्वर उन्मत्त सिद्ध होगया, क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् विना प्रयोजन कार्य नहीं करता।

सिद्धान्ती—यह सृष्टि–रचना परमात्माकी क्रीडा है इसलिये इसमें प्रयोजनके अन्वेषणकी आवश्यकता नहीं है। और न इसके निष्प्रयोजन होनेसे परमात्मा उन्मत्त प्रमाणित होसकता है। लोकमें देखते हैं कि विना किसी निमित्त राजा लोग नाना प्रकारके खेल खेलते हैं, परन्तु उनको उन्मत्त कोई नहीं कहता।

पूर्वपक्षी—पूर्वोक्त अनुमानोंसे जैसे "इस जगत्का कोई शरीरी चेतन कर्ता है" यह प्रमाणित होता है, ऐसे ही 'जगत्कर्ता रागी, कर्तृत्वात् कुलालवत्' इत्यादि अनुमानोंसे वह कर्ता रागी है, द्वेषी है यह भी प्रमाणित होसकता है, क्योंकि कुलाल आदि लौकिक कर्ताओंके साथ जैसे ज्ञानेच्छा–प्रयत्न–शरीरोंका सार्वदिक सम्बन्ध है, ऐसे ही राग द्वेष आदि दोषोंका भी है।

वेद ईश्वरको निर्दोष कहता है।

सिद्धान्ती—केवल अनुमानोंके आधारपर ही ईश्वरके स्वरूपका संपूर्ण निर्णय नहीं होसकता, साथ ही '**यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः**' '**सर्वतःपाणिपादान्तं**' '**निष्क्रियं निष्कलं शान्तं निरवद्यं**' इत्यादि श्रुतियोंपर भी दृष्टि–पात करना चाहिये। ये श्रुतियाँ स्पष्ट ही ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, अप्राकृत–शरीर और निर्दोष बताती हैं। अतः ऐसे ईश्वरमें, इन श्रुतियोंके विरुद्ध, उक्त अनुमान राग, द्वेष आदि दोषोंको प्रमाणित नहीं कर सकते। और वस्तुतः इस केवल आनुमानिक विचारका उपयोग कुछ तर्क–कवलित–मति लोगोंके लिये है, सात्विक, वैदिक–श्रद्धा–संपन्न हम लोगोंके लिये तो, सहस्रशः श्रुति–स्मृति–पुराणवचन ब्रह्मके स्वरूपको जगज्जन्मादिकारण, आनन्दमय,

अचिन्त्यानन्त-शक्ति, विरुद्ध-धर्माधार कह रहे हैं । अतः ऐसे अनुमानोंकी अपेक्षा ही नहीं है ।

ब्रह्मके गुणोंका स्वरूप ।

(४३) **पूर्वपक्षी**—ब्रह्मको विरुद्ध-धर्माधार कहना **'एकमेवाद्वितीयम्'** इत्यादि प्रमाणोंसे विरुद्ध है, क्योंकि ये प्रमाण ब्रह्मको सब प्रकारके भेदोंसे शून्य कहते हैं और लौकिक आधारोंके दृष्टान्तानुसार विरुद्ध-धर्माधार ब्रह्मका अपने धर्मोंसे भिन्न प्रमाणित होना निश्चित है । यदि अभिन्न मानते हो तो धर्मरूपसे प्रतीति न होनेसे इनको धर्म कहना ही व्यर्थ है । अतः ब्रह्मके धर्मोंको जगत्के समान ब्रह्म-कार्य मानना ही ठीक है । इससे श्वेतकेतूपाख्यानमें कही हुई सर्व-विज्ञान-प्रतिज्ञाकी भी उपपत्ति होजाती है ।

सिद्धान्ती—जैसे सूर्यका तेज सूर्यसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है । 'सूर्यका तेज' इत्यादि भेद-बोधक शब्दोंसे व्यवहार होता है इसलिये भिन्न है और सूर्य स्वयं तेजोमूर्ति है इसलिये अभिन्न है । इसी प्रकार ब्रह्म-धर्म धर्मरूपसे प्रतीत होते हैं इसलिये भिन्न हैं और सच्चिदानन्द-रूप होनेसे अभिन्न हैं । यही भेदाभेद **'एकमेवाद्वितीयम्'** **'परास्य शक्तिः'** इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है । और भगवान् वेदव्यासने भी **'प्रकाशाश्रयवद्वा'** इस सूत्रसे यही निर्णय किया है ।

इसके अतिरिक्त श्रीभागवत द्वितीयस्कन्धमें भी जहाँ ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन किया है वहाँ **'युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाध्रुवैः'** (अर्थ-जिन धर्मोंका जीवोंमें रहना ब्रह्मकी इच्छापर निर्भर है ऐसे नित्य-सिद्ध-धर्मोंसे युक्त) **'सत्य-ज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः'** इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्म-धर्मोंको नित्य और सच्चिदानन्द-स्वरूप कहा है । अतः इनको प्राकृतिक पदार्थोंके समान ब्रह्म-कार्य मानना उचित नहीं । और **'एकमेवाद्वितीयम्'** यह श्रुति तो केवल इतना ही कहती है कि "ब्रह्म-भिन्न कोई वस्तु नहीं है" । इससे यह नहीं सिद्ध होता कि ब्रह्म स्वरूपभूत धर्मोंसे भी शून्य है, क्योंकि "मध्याह्नके समय आकाशमें सूर्यके सिवा और कोई नहीं रहता" इस वाक्यका तात्पर्य यहाँ तक नहीं पहुँचता कि सूर्यकी प्रभा भी नहीं रहती है । अतः अद्वैत-भङ्गके बहानेसे स्वरूप-भूत धर्मोंमें अन्यथा कल्पना करना सर्वथा अयोग्य है । उपर्युक्त वचनोंके अनुसार ब्रह्मके ऐश्वर्य, वीर्य आदि धर्म, देह और क्रियात्मक-लीला, सभी सच्चिदानन्द-स्वरूप नित्यसिद्ध हैं यही मानना योग्य है ।

लीलाकी नित्यता ।

(४४) **पूर्वपक्षी**—ब्रह्मके धर्मोंका तो किसी प्रकार नित्य होना संभव है, क्योंकि

वे ब्रह्ममें रहते हैं और ब्रह्म नित्य है, परन्तु पर्वत, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि अनेक अनित्य पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाली गोवर्द्धनोद्धरण आदि क्रियाऽऽत्मक–लीलाओंका नित्य होना कैसे संभव है ? ।

सिद्धान्ती—यदि लीला नित्य न होती तो भगवान् शुकाचार्य परीक्षितको कथा सुनानेके समय **'यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्'** **'व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम्'** इत्यादि श्लोकोंमें क्रियात्मक लीलाको लक्ष्य कर वर्तमान–वस्तुवाचक इन 'अस्यन्' 'वर्द्धयन्' आदि शब्दोंका प्रयोग न करते ।

पूर्वपक्षी—व्याकरणके नियमानुसार वर्तमान–वाचक शब्दोंका प्रयोग भूत और भविष्यत् कालसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओंके विषयमें भी होसकता है । लोकमें देखते हैं कि मनुष्य अपने भावी गमनके विषयमें भी 'यह जाता हूँ' इस प्रकार वर्तमान–वाचक शब्दका प्रयोग करते हैं । अतः 'वर्द्धयन्' इत्यादि वर्तमान–वाचक शब्दोंसे परीक्षितके समयमें श्रीकृष्ण–लीलाकी सत्ता प्रमाणित नहीं होसकती ।

सिद्धान्ती—व्याकरणके नियमानुसार भी वर्तमान–वाचक शब्दका वर्तमान पदार्थके ही लिये उपयोग करना मुख्य है, भूत और भावीके लिये जो उपयोग किया जाता है वह गौण है । अतः 'वर्द्धयन्' आदि शब्दोंके मुख्य अर्थका परित्याग कर गौण अर्थको स्वीकार करना उचित नहीं ।

पूर्वपक्षी—वक्ताका जिसकी ओर प्रधान लक्ष्य हो उसके वाचक शब्दोंमें किसी प्रकारकी गौणताका स्वीकार करना अवश्य अनुचित है, परन्तु जो शब्द प्रधानके प्रशंसक या उपलक्षक हैं उनमें गौणताका स्वीकार करना अयोग्य नहीं है । देखते हैं कि अनेक स्थलोंमें परिचयके लिये भूत–पूर्व घटनाओंका भी वर्तमानवत् उल्लेख किया जाता है । यदि किसी भूतपूर्व अध्यापकका हमें ऐसी व्यक्तिके लिये परिचय देना है जो कि केवल उसकी अध्यापक–दशासे ही परिचित है तो वहाँ यही कहना आवश्यक होगा कि अमुक मास्टर आते हैं, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह अभी भी मास्टर है । अतः जैसा यह भूतपूर्वको लक्ष्यमें रखकर व्यवहार किया जाता है, ऐसा ही **'वर्द्धयन् कामदेवम्'** **'अस्यन्नधर्मम्'** यह कथन भी है । इसका संक्षिप्त तात्पर्य इतना ही है कि यादवोंकी सहायतासे अधर्मके उन्मूलन–कर्ता और रासोत्सव–कर्ता श्रीकृष्ण सर्वोत्कर्षसे विद्यमान हैं, यह आशय नहीं कि अधर्मोन्मूलन और रास–लीला अभी कर रहे हैं ।

सिद्धान्ती—जैसे शब्द–मर्यादाके अनुसार **'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'** इस श्रुतिमें 'प्रचरन्ति' क्रियाका अर्थ जो प्रचार है वही मुख्य और विधेय अर्थ मालूम

होता है, परन्तु उसका प्रथम विधान हो चुका है, इसलिये अपूर्वता–शून्य होजानेसे वह प्रधान नहीं माना जाता, किन्तु विशेषणांश जो 'लोहितोष्णीषता' है जिसका अर्थ–लाल पगडी पहिनना है–यही अपूर्व होनेसे प्रधान माना जाता है, इसी प्रकार उपर्युक्त '**जयति जननिवासः**' इस वचनमें भी शब्द–मर्यादाके अनुसार 'श्रीकृष्ण सर्वदा वर्तमान है' यही शुकाचार्यका मुख्य अभिप्रेत अर्थ–मालूम होता है, परन्तु यह पूर्वके अनेक प्रमाणोंसे वर्णित और अत्यन्त प्रसिद्ध होनेसे अपूर्वता–शून्य है, इसलिये इसे प्रधान नहीं मान सकते, किन्तु '**अस्यन्नधर्मम्**' '**वर्धयन् कामदेवम्**' इत्यादि विशेषणांश–जिसका कि तात्पर्य परीक्षितके समयमें भी जरासन्ध–युद्ध, रासोत्सव आदि लीलाओंको वर्तमान बताना है–यही अपूर्व होनेसे मुख्य है इसलिये, इसमें गौण वर्तमानार्थ स्वीकार करना अवश्य अयोग्य है।

और यदि भगवान् शुकाचार्यको 'अस्यन् वर्द्धयन्' इन शब्दोंका वर्तमान अर्थ ग्राह्य न होता तो इनका प्रयोग ही न करते, जिससे इस विवादकी ही प्रवृत्ति न होती। अथवा श्रीकृष्णके परिचय या प्रशंसाके लिये कुछ विशेषण शब्दोंका प्रयोग करना आवश्यक था तो ऐसे शब्दोंका प्रयोग करते जिनका अर्थ रासादि लीला करनेवाले श्रीकृष्ण विद्यमान हैं ऐसा हो और रासादि–लीला करते हुए श्रीकृष्ण विद्यमान हैं ऐसा न हो। अतः उक्त शब्दोंके वर्तमानार्थका त्याग करना सर्वथा शुकाचार्यके अभिप्रायसे विरुद्ध है।

भगवान्के गुण कर्म नामोंकी नित्यता।

(४५) इसके अतिरिक्त दशम–स्कन्धमें नामकरण–संस्कारके प्रसङ्गमें '**बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते**' इस श्लोकके द्वारा गर्गाचार्यने नन्दजीसे जो यह कहा कि "तेरे पुत्रके गुण–कर्मानुरूप नाम और रूप अनेक हैं उनको मैं जानता हूँ और कोई नहीं जानते"। इससे भी लीला और लीला–सम्बन्धी पदार्थ नित्य प्रमाणित होते हैं, क्योंकि भगवान्ने गुण कर्मोंका प्रकाशन करनेके लिये जो रूप प्रकट किये हैं और गुण–कर्मोंके कारण जो नाम प्रकट किये हैं उन्हीं नाम–रूपोंको इस वचनमें गुणकर्मानुरूप कहा है। जैसे गोवर्द्धन धारण करनेके कारण भगवान्का गोवर्द्धनोद्धरण यह नाम, और–एक श्रीहस्त उर्ध्व है जिसपर गोवर्द्धन स्थित है और एक कटिपर रक्खा हुआ है, शरण आये हुए भयभीत व्रजवासियोंको दयाऽऽर्द्र दृष्टिसे देख रहे हैं, अभय–वचन कह रहे हैं–यह रूप। ऐसे और भी राम, वामन आदि नाम और रूप समझ लिये जाँय। इन नामरूपोंका गर्गाचार्यके कथनके समय वर्तमान रहना तभी संभव है जब कि क्रियात्मक लीला और लीलासे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थ सभी

नित्य हों। और इन नामरूपोंको वर्तमान कहनेवाली 'सन्ति' इस क्रियाका गौण वर्तमानार्थ तो स्वीकार कर नहीं सकते, क्योंकि प्रस्तुत वचनमें यही प्रधान क्रिया है, वक्ताका लक्ष्य इसीके ओर मुख्य है। अतः लीलाको नित्य मानना आवश्यक है।

पूर्वपक्षी—लीला और लीला–सम्बन्धी पदार्थोंका भगवान्‌के गोवर्द्धनोद्धरण आदि रूपोंके साथ तो अवश्य ऐसा सम्बन्ध है कि इनके अभावमें रूपोंका विद्यमान रहना असम्भव है, परन्तु नामोंके साथ तो ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। गोवर्द्धनधारण आदि लीलाओंके अनन्तर इनकी अभाव दशामें भी गोवर्द्धनोद्धरण आदि नामोंकी सत्ता रह सकती है। लोकमें देखते हैं कि वस्तुके अभावमें भी उसका नाम रहता है। अतः गर्गाचार्यने नाम–करण–संस्कारके समय जो पूर्व नामोंको वर्तमान कहा है इससे "उनके अर्थ और अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थ भी उस समय वर्तमान हैं" यह सिद्ध नहीं होता। अत एव इन्हें नित्य कहना भी व्यर्थ है।

सिद्धान्ती—लीला और लीला–सम्बन्धी पदार्थोंका जैसा रूपोंके साथ सम्बन्ध है, ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध नामोंके साथ भी है, क्योंकि भगवान्‌के नाम नित्य हैं और विना अर्थ विद्यमान रहे नित्य हो नहीं सकते। लौकिक नाम जो अर्थके अभावमें भी विद्यमान रहते हैं ये नाम नहीं हैं, नामाभास हैं—केवल रूढिसे अर्थबोध कराते हैं,—अत एव रूढिको जाननेवाले जब नष्ट होजाते हैं, तब ये नाम भी नष्ट होजाते हैं,—अनित्य हैं। यदि भगवान्‌के नामोंकी भी अर्थके अभावमें सत्ता मानी जाय तो जैसे ये लौकिक नाम अनित्य हैं, ऐसे ही भगवान्‌के नाम भी अनित्य प्रमाणित होजाँएँगे, इसलिये नामोंके साथ अर्थोंकी भी सत्ता मानना आवश्यक है।

और भगवान् वेदव्यासने भी वेदकी नित्यताकी रक्षाके लिये वैदिक शब्दोंका अर्थ वैदिक नित्य व्यक्तियाँ है यह स्वीकार किया है, इसलिये यहाँ भी नित्य भगवन्नामोंके अर्थोंको नित्य ही मानना चाहिये।

पूर्वपक्षी—**'बहूनि सन्ति नामानि'** इस वचनमें तो नाम–करण–संस्कारके समय भगवान्‌के बहुत नाम वर्तमान हैं इतना ही कहा है, नाम नित्य हैं ऐसा तो कहा नहीं है। अतः नामोंकी नित्यतासे अर्थोंकी नित्यता सिद्ध नहीं होसकती।

सिद्धान्ती—यदि नित्य न होते तो बहुत समय पूर्व प्रकाशित किये गुण–कर्म जिनकी प्रवृत्तिमें निमित्त हैं, ऐसे नाम नाम–करण–संस्कारके समय कैसे वर्तमान रहते?।

पूर्वपक्षी—यदि भगवान्‌के गुण कर्म भी नित्य हैं और नाम भी नित्य हैं तो नामोंकी प्रवृत्तिमें गुण कर्म कारण हैं यह कैसे संभव है?, क्योंकि नित्य वस्तु कारणकी अपेक्षा नहीं करती।

सिद्धान्ती—यद्यपि भगवान्‌के नाम नित्य हैं, परन्तु रूपोंके समान भगवान्‌के नामोंका भी आविर्भाव होता है और इस आविर्भावका तात्पर्य इतना ही है कि लीला विशिष्ट भगवत्स्वरूपके दर्शन करनेवालोमें उस स्वरूपके बोधक शब्दोंके द्वारा गुण–गानका प्रारम्भ होना । यह जब तक कुछ विशिष्ट भक्तोंको ही दर्शन होता है, तब तक उन्हींमें होता रहता है । जब कि भगवानकी साधारणेच्छासे सर्व–साधारणको दर्शन हो जाते हैं, तब यह सर्व–साधारणमें होने लगता है । और यही सर्वसाधारणके दर्शनका समय नाम–प्रादुर्भाव–समय समझा जाता है । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस समयसे पूर्व वह नाम ही नहीं था । जैसे उदाहरणके लिये समझ लिया जाय कि भगवान् श्रीकृष्णको गोविन्दनामका लाभ सर्व–साधारणकी प्रसिद्धिमें इन्द्र–मद–भङ्गके अनन्तर जब काम–धेनुने आकर दुग्धाऽभिषेक किया तबसे माना जाता है, परन्तु गोपीजन तो इससे भी बहुत समय पूर्व हुए पूतना–पयः–पानके अवसरपर भगवान्‌के श्रीअङ्गमें बीज–न्यास करती हुई **'क्रीडन्तं यातु गोविन्दः'** यह गोविन्द–नामोच्चारण करती हैं । ऐसे ही गोचारणके लिये जानेके अनन्तर विरहमें गुण–गान करती हुई **'गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यम्'** यह भी कहती हैं । अतः **'वाचा विरूप नित्यया'** इस श्रुतिके अनुसार वेद जैसे नित्य अखण्ड–शब्द ब्रह्माऽऽत्मक माना जाता है, ऐसे ही भगवन्नामोंको भी मानना चाहिये ।

इनमें सखण्डता या लौकिकताकी जो प्रतीति होती है यह द्रष्टाओंके बुद्धि–दोषसे होती है, वस्तुतः लौकिक पुरुषोंके राम, कृष्ण आदि नाम भगवान्‌के नामोंसे सर्वथा भिन्न हैं और वे नाम नहीं, किन्तु नामाऽऽभास हैं, क्योंकि भगवन्नामोंके जो सच्चिदानन्दादि–रूप अर्थ हैं वे लौकिक पुरुषोंमें नहीं हैं ।

पूर्वपक्षी—**'बहूनि सन्ति नामानि'** इस वचनमें 'नामानि' इस शब्द पर्यन्त एक पृथक् वाक्य है, इसके साथ **'गुणकर्माऽनुरूपाणि'** इस विशेषणका कोई सम्बन्ध नहीं है । इस वाक्यसे गर्गाचार्य केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि तेरे पुत्रके बहुत नाम हैं, नामोंकी और कुछ अधिक व्याख्या करना नहीं चाहते, क्योंकि यहाँ नन्दजीकी प्रार्थनानुसार केवल नामकरणकी ही अपेक्षा है । अतः नामोंके साथ उक्त विशेषणका सम्बन्ध मान कर नामोंको और उनके अर्थोंको नित्य कहना अप्रमाणिक है । और व्यवहारमें देखा जाता है कि पाचक, पाठक आदि शब्दोंका अर्थके अभावमें भी प्रयोग किया जाता है, परन्तु इनको नामाऽऽभास या नाम नहीं है यह कोई नहीं कहता । अतः ब्रह्मके नामार्थसे सम्बन्ध रखनेवाली यदि कोई वस्तु वर्तमान न हो तो नाम नामाऽऽभास नहीं होसकते ।

सिद्धान्ती—यदि गर्गाचार्य नन्दजीसे इतना ही कहना चाहते हैं कि तेरे पुत्रके बहुत नाम हैं तो गुण–कर्माऽनुरूप रूपोंकी चर्चा करनेकी क्या अपेक्षा है? । यदि नन्द–पुत्रके प्रभावका बोध करानेके लिये यह चर्चा कीजाती है तो नामोंको गुण-कर्माऽनुरूप कहना भी इसीके लिये है । गर्गाचार्य नन्दजीसे यह कहना चाहते हैं कि तेरे पुत्रके नाम लौकिक नामोंके समान निरर्थक नहीं है, किन्तु नामोंके अर्थभूत गुण–कर्म इसमें वर्तमान हैं इसलिये सार्थक हैं । और सार्थक थे या सार्थक होंगे यह भी नहीं, किन्तु सभी नामोंके बोध्य गुण–कर्म नित्य होनेसे इस समय भी विद्यमान हैं इसलिये इस समय भी सार्थक हैं । और ये असंख्य हैं, अतः मैं जिन नामोंको कह रहा हूँ ये नये बनाये हुए नहीं हैं, किन्तु इन्हीं नित्य–सिद्ध नामोंमेंसे उद्धृत किये हुए हैं । और नन्दसुत आदि जो नाम तुम्हारे सम्बन्धकी सूचना करते हैं ये भी अनादि हैं, अभी उत्पन्न नहीं हुए ।

और तेरे पुत्रके नाम गुण–कर्मानुरूप हैं, इस कथनसे यह भी सूचित होता है कि लौकिक नाम गुणकर्मानुरूप नहीं है, केवल रूढि–बलसे ही सभी वस्तुओंका बोध करा देते हैं, अत एव नामाभास हैं, क्योंकि शब्दोंका मुख्य–वृत्तिसे ही अर्थ–बोध करानेका स्वभाव है, इसलिये इसका परित्याग कर देनेसे इनमें मुख्यता न रही ।

वेदमें लीलाका स्वरूप ।

(४४–४६) **पूर्वपक्षी**—यद्यपि उपर्युक्त पौराणिक वचनोंसे नाम, रूप और लीला नित्य प्रमाणित होते हैं, परन्तु वेद और उपनिषदोंमें ऐसे प्रमाण वचन दृष्टि–गोचर नहीं होते हैं, इसलिये संभव है कि इन पौराणिक वचनोंका कुछ और आशय हो, क्योंकि पुराणोंको तुम वेदोंकी व्याख्या मानते हो । यदि इनमें यह इतना विस्तृत विवरण है तो वेदोंमें भी इसका मूल कुछ होना ही चाहिये ।

सिद्धान्ती—ब्रह्मकी नित्य–लीलाका वर्णन करनेवाले, वेद और उपनिषदोंमें अनेक मंत्र हैं । ब्रह्मकी जो लीला अन्य–निरपेक्ष है–जिसमें लीला–प्रविष्ट भक्तोंकी अपेक्षा नहीं होती है–उसका वर्णन **'तदेजति तन्नैजति'** इत्यादि औपनिषद श्रुतियाँ करती हैं । 'एजति' और 'नैजति' ये दोनों वर्तमान–कालकी क्रिया हैं । इनमें प्रथमाका अर्थ कम्पित होना है और द्वितीयाका अर्थ कम्पित न होना है । इस वर्तमानार्थक–क्रिया–प्रयोगसे यह प्रमाणित होता है कि कम्पन–क्रिया, इसका अभाव और इनके आधार–भूत ब्रह्म–स्वरूप ये सर्वदा वर्तमान रहते हैं ।

(४७) ब्रह्मकी जो अन्य–सापेक्ष लीला हैं–जिनमें कि व्रजभक्तोंकी सहायताकी अपेक्षा होती है–उनके वर्णन करनेवाले ये संहिता–मंत्र हैं—

'विष्णोः कर्माणि पश्यत, यतो व्रतानि पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखा ।'

अर्थ–विष्णुके यशोदा–स्तन–पान, गोपाङ्गना–विहार, इन्द्रयागभङ्ग आदि कर्मोंको देखो ।

यह श्रुति इस समय भी जो इन विष्णुकर्मोंके दर्शनका उपदेश करती है इससे इनकी नित्यता प्रमाणित होती है, क्योंकि जो अनित्य होनेके कारण नष्ट होगये हैं–इस समय वर्तमान नहीं हैं–उनके विषयमे 'पश्यत' (देखो) ऐसा उपदेश नहीं हो सकता । अतः यह उपदेश ही नित्यताको सूचित करता है ।

(४८) **'जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभिपौंस्यं रणम् ।
अवृश्चदद्रिमव सः स्यदसृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम् ।'**

अर्थ–जिसने प्रकट होते ही पूतना, तृणावर्त आदि दैत्योंको मारा और अनन्तर मथुरा, द्वारका आदि स्थानोंमें जरासन्ध, शाल्व, सौभ आदि दैत्योंके साथ युद्ध किया और इन्द्रने जब कुपित होकर गोकुलके विनाशके लिये वृष्टि की तो गोकुल–रक्षाकी इच्छासे गोवर्द्धन गिरिको उठा कर विशाल आकाश आच्छादित कर दिया ।

इस श्रुतिमें यद्यपि कोई नित्यता–सूचक शब्द नहीं है, परन्तु वेद और वेदार्थ दोनों भी नित्य हैं यह व्याससूत्र–सिद्ध सिद्धान्त है, इसलिये इस श्रुतिमें वर्णित लीलाकी नित्यतामें भी सन्देह नहीं होसकता ।

और **'व्रजं च विष्णुः सखिवानपोर्णुते'** इत्यादि कई ऐसे मंत्र भी वेदमें हैं जिनमें 'अस्यन्' 'वर्द्धयन्' जैसे वर्तमान–वाचक शब्द मिलते हैं । इस प्रदर्शित मंत्रमें गोवर्द्धनको पुनः यथा–स्थान रखनेका वर्णन है और 'अपोर्णुते' यह वर्तमान–वाचक शब्द है ।

पूर्वपक्षी—लीलाकी नित्यताके तो प्रमाण दिखाये, परन्तु गोकुल, गोवर्द्धन आदि लीला–परिकरके नित्य प्रमाणित हुए विना इस अन्य–सापेक्ष लीलाको नित्य मान नहीं सकते, इसलिये प्रथम इनकी नित्यताके विषयमें कुछ प्रमाण दिखाने चाहिये ।

लीला–स्थानोंका स्वरूप ।

(४९) **सिद्धान्ती**—लीला–परिकरको नित्य कहनेवाली श्रुतियाँ तो बहुत हैं, परन्तु यहाँ 'स्थाली–पुलाक' न्यायसे कुछ ही श्रुतियोंका उपन्यास किया जाता है। ऋक्–संहिताकी यह श्रुति गोकुलका वर्णन इस प्रकार करती है—

**'ता वाँ वास्तून्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि ।'**

अर्थ—हम वहाँकी वस्तुओंको प्राप्त करना चाहते हैं जहाँ बडे २ सींगवाली सुन्दर

गायें रहती हैं और जो गोपियोंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले भगवान् विष्णुका व्यापक परम पद (स्थान) अपनी शोभा इस समय भी यहाँ पृथ्वी पर दिखा रहा है ।

इस श्रुतिमें जो गोकुलको व्यापक, विष्णुका परम पद और 'अवभाति' इस वर्तमान–कालिक–क्रियाके द्वारा इस समय भी शोभा दिखा रहा है, यह कहा, इससे गोकुलका नित्य होना स्पष्ट ही है ।

इसीका समानार्थक एक मंत्र कृष्ण यजुर्वेदकी संहितामें भी है, जिससे कुछ दूर पर यह श्रुति है—

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः, दिवीव चक्षुराततम्'।

इन दोनों श्रुतियोंसे गोकुल नित्य है, यह बहुत ही ठीक प्रमाणित होजाता है। और उत्तर मंत्रके **'सदा पश्यन्ति सूरयः'** (विष्णुके जिस परम पदको भक्त सर्वदा देखते हैं) इस अंशसे तो यह और भी अधिक स्पष्ट है ।

नित्यलीला–स्थान कहाँ हैं ।

पूर्वपक्षी—उपर्युक्त श्रुतियोंमें जिस नित्य–लीला–स्थानका वर्णन है वह कहाँ है ? । यदि यहीं पृथ्वी पर है तो दृष्टि–गोचर होना चाहिये ।

और जैसे मृत्यु, पाताल आदि अन्य लोकोंमें रहनेवाले जीवोंके साथ दुःखका संसर्ग रहता है, ऐसे ही यहाँ निवास करनेवालोंके साथ भी दुःख–संसर्गका होना अवश्यंभावी है, इसलिये यह केवलआनन्दमय, नित्यलीला–स्थान कहलाने योग्य भी नहीं है ।

सिद्धान्ती—इन्हीं आशङ्काओंके समाधानके लिये 'तद्विष्णोः' इस श्रुतिमें **'दिवीव चक्षुराततम्'** यह पद पढा है । इसमें भक्तजन गोकुलको किस प्रकार देखते हैं इसके लिये तीन दृष्टान्त दिखाये गये हैं–दिवीव, चक्षुरिव, आततं चक्षुरिव । प्रथम दृष्टान्तसे यह प्रमाणित होता है कि स्वर्ग जैसे केवल सुखमय है, इसी प्रकार यह गोकुल भी केवल सुखमय है–इसमें रहनेवाले नित्यलीला–प्रविष्ट भक्तोंके साथ दुःखका कोई संसर्ग नहीं है । दूसरे दृष्टान्तका तात्पर्य यह है कि जैसे नेत्रेन्द्रिय दिव्य–ज्ञान–संपन्न योगियोंके सिवा अन्य किसीको दृष्टि–गोचर नहीं होता है और जिस गोलकमें रहता है उसकी भी 'नेत्र' नामसे प्रसिद्धि कर देता है, ऐसे ही गोकुल भी जिनपर भगवान्का पूर्ण अनुग्रह है उनके सिवा अन्य लोगोंको दृष्टि–गोचर नहीं होता और जिस भूस्थानमें रहता है उसकी भी अपने नामसे प्रसिद्धि कर देता है । तीसरे दृष्टान्तसे यह कहा है कि जैसे नेत्रेन्द्रिय तैजस है, तथापि तेजके गुण रूप, स्पर्श आदि अप्रकट होनेसे यह अन्धकारमें प्रकाशित होकर अपनी तैजसता नहीं दिखाता, इसी प्रकार नित्य–लीलास्थान गोकुल भी आनन्दमय, अलौकिक है, परन्तु भगवानकी इच्छासे

प्रच्छन्न–प्रभाव ही रहता है, इस कारण इसके निवासी लोगोंमें काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोष दृष्टि–गोचर होते हैं, वस्तुतः दोष नहीं हैं । इस प्रकार ये तीनों दृष्टान्त तुम्हारी पूर्वोक्त आशङ्काओंका उचित प्रत्युत्तर देते हैं ।

पूर्वपक्षी—"वह नित्य लीला–स्थान कहाँ है ?" इस पूर्वोक्त प्रथम प्रश्नका उत्तर ठीक नहीं मिला, केवल दूसरे दृष्टान्तके आशय–विवरणसे इतना मालूम होता है कि वर्तमान सर्वसाधारण–प्रत्यक्ष गोकुल नित्य–लीला–स्थान आनन्दमय गोकुलका अभिव्यक्ति–स्थान यानी आधार है, वस्तुतः गोकुल नहीं है । परन्तु ऐसा माननेमें यह आपत्ति है कि गोकुलके समान गोवर्द्धन, यमुना आदि सभी स्वरूप ऐसे ही प्रमाणित होजाएँगे । और ऐसा होनेसे इनके सर्वसाधारण–दृश्य स्थूल–स्वरूपकी भक्ति करनेवालोंका परिश्रम व्यर्थ होजायगा । व्रजवास, यमुनास्नान आदि सभी भ्रान्ति–मूलक निरर्थक प्रमाणित हो जाएँगे ।

सिद्धान्ती—जैसे नेत्रेन्द्रिय गोलकमें अभिव्याप्त होकर अपना दर्शनादि कार्य गोलकके द्वारा करवाता है, इसी प्रकार नित्य–लीला–स्थान गोकुल भी सर्व–प्रत्यक्ष गोकुलमें सन्निहित रह कर इसीके द्वारा अपने प्रभावका परिचय देता है । ऐसा ही गोवर्द्धन, यमुना आदि सभी परिकरका स्वरूप है । अतः व्रजवास, यमुना–स्नान आदि कार्य भ्रान्ति–मूलक और अवास्तविक नहीं होसकते ।

और "नित्य लीला–स्थान कहाँ हैं ?" इस प्रश्नका पक्षान्तरमें एक उत्तर यह भी है कि वह नित्य–लीला–स्थान यही सर्व–साधारण–प्रत्यक्ष गोकुल है, केवल द्रष्टाओंको अपने इन्द्रिय–दोषसे वास्तविक स्वरूप मालूम नहीं होता है ।

लीला–स्थानोंके स्वरूपमें विपरीत प्रतीति ।

पूर्वपक्षी—जिनको गोकुलका संसर्ग नहीं है उन्हें गोकुलके स्वरूपका अन्यथा ज्ञान होना संभव है, परन्तु जो सर्वदा गोकुलमें रहते हैं उनको अन्यथा ज्ञान होना संभव नहीं है, क्योंकि सच्चिदानन्द–स्वरूप अलौकिक नित्य लीला–स्थानोंमें अज्ञान, भ्रम आदि लौकिक धर्मोंका उदय हो नहीं सकता, फिर गोकुलमें रहनेवालोंको क्यों नहीं गोकुलका आनन्दमय, अलौकिक स्वरूप प्रतीत होता है ? ।

सिद्धान्ती—गोकुलके स्वरूपका अन्यथा–ज्ञान होनेमें परमात्माकी आसुर व्यामोहकारिणी इच्छा ही कारण है । नित्य लीलाप्रविष्ट व्रजवासियोंके **'क्षुधार्ता इदमब्रुवन्'** (क्षुधासे दुःखित होकर यह बोले) **'त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद्भक्तवत्सल'** (हे भक्त–वत्सल ! कुपित हुए इन्द्रसे हमारी रक्षा कीजिये) इत्यादि वचनोंसे यह

निश्चित होता है कि नित्यलीलास्थान–वासियोंमें भी भगवान्की इच्छासे दुःख, भय, क्रोध, विपरीत–ज्ञान आदि विरुद्ध धर्मोंका उदय होसकता है ।

(४८) **पूर्वपक्षी—'दिवीव चक्षुराततम्'** इस दृष्टान्तकी व्याख्यासे और **'ता वाँ वास्तूनि'** इस श्रुतिके 'अत्र' पदसे गोकुलकी स्थिति पृथ्वी पर प्रमाणित हो चुकी है, परन्तु इसमें आपत्ति यह है कि महाप्रलयके समय जब पृथ्वी नष्ट होजायगी तो यह भी नष्ट होजायगा, क्योंकि निराधार स्थिति रह नहीं सकती ।

सिद्धान्ती—घट, पट आदि परिच्छिन्न पदार्थोंका आधार जैसे पृथ्वी है, इस प्रकार गोकुलका आधार पृथ्वी नहीं है, किन्तु जैसे आत्माको व्यापक माननेवालोंके मतमें आत्माका आधार शरीर है, ऐसे ही गोकुलका आधार पृथ्वी है । अतः शरीरके नष्ट होनेपर भी जैसे आत्मा नष्ट नहीं होता है, ऐसे ही महाप्रलयके समय पृथ्वीके नष्ट होनेपर भी गोकुल नष्ट नहीं होसकता ।

लीला–स्थानोंकी व्यापकता और सत्यता ।

पूर्वपक्षी—जैसे आत्मा व्यापक है ऐसे ही गोकुल भी व्यापक हो तब इस दृष्टान्तका उपयोग होसकता है, अतः गोकुल व्यापक है, इस विषयमें प्रथम प्रमाण बताना चाहिये ।

सिद्धान्ती—'ता वाँ वास्तूनि' इस श्रुतिके 'भूरि' शब्दसे गोकुलकी व्यापकता प्रथम प्रमाणित होचुकी है और **'व्यापिवैकुण्ठसंज्ञितः'** इस बृहद्वामन पुराणके वचनसे आगे और अधिक स्पष्ट होजायगी ।

और जब कि श्रुतियाँ गोकुलको नित्य कहती हैं तो प्रलयके समय पृथ्वी रहे, चाहे न रहे, गोकुलकी नित्यतामें शङ्का नहीं होसकती। जैसे **'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्म–पुरे'** इस दहराधिकरणकी श्रुतिमें 'पुर'–शब्दका शरीर अर्थ माननेवाले **'ब्रह्मपुरे जीर्णे ध्वस्ते वा' 'नास्य जरयैतज्जीर्यति'** इत्यादि अग्रिम वाक्योंके अनुसार ब्रह्मपुरको नश्वर स्वीकार करते हुए भी पुरके अन्तर्गत वेश्मको नित्य मानते हैं, इसी प्रकार पूर्वोक्त श्रुतियोंके अनुरोधसे पृथ्वीको नश्वर स्वीकार करते हुए भी गोकुलको नित्य माननेमें कोई आपत्ति नहीं है ? । श्रौत पदार्थोंमें यह नियम नहीं होसकता कि आधार अनित्य हो तो आधेय भी अनित्य हो ।

और वस्तुतः हमारे विचारसे तो दहराधिकरणकी श्रुतिमें भी 'ब्रह्मपुर' शब्दका गोकुल, मथुरा आदि नित्यलीलास्थान ही अर्थ है, शरीर अर्थ नहीं है, क्योंकि **'एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्'** इस अग्रिम वाक्यसे ब्रह्मपुरको सत्य कहा है और शरीर (जीव शरीर) सत्य हो नहीं सकता ।

पूर्वपक्षी—इस श्रुतिमें प्रथम **'यदेतज्जरा वाऽऽप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यते'** (अर्थ—यह ब्रह्मपुर जब जीर्ण और नष्ट होता है तब शेष क्या रहता है) इस अंशसे ब्रह्मपुर नष्ट होनेपर क्या शेष रहता है यह प्रश्न किया है और अनन्तर **'नास्य जरयैतज्जीर्यति'** (ब्रह्मपुरकी जरा या नाशसे उसके भीतर रहनेवाला वेश्म जीर्ण या नष्ट नहीं होता) इस अंशसे भीतर रहनेवाले वेश्मके जरा—नाशोंका निषेध करते हुए भी ब्रह्म—पुरके जरा—नाशोंको स्वीकार किया है। अतः ब्रह्मपुरको नित्यलीला स्थान नहीं कह सकते ।

सिद्धान्ती—**'नास्य जरयैतज्जीर्यति'** इस अंशसे ब्रह्मपुरके जरानाशोंको स्वीकार नहीं किया है, किन्तु इसके अन्तःस्थित वेश्मकी नित्यताको दृढ प्रमाणित करनेके लिये "यदि ब्रह्मपुर जीर्ण या नष्ट भी होजाय, तथापि अन्तः—स्थित वेश्म जीर्ण या नष्ट नहीं होसकता है"—इस आशयका यह तर्क दिखाया है । जैसे "अग्नि न होती तो धूम भी न होता" इस तर्कका अग्निके अभावकों प्रमाणित करनेमें उपयोग नहीं होसकता है, ऐसे ही **'नास्य जरयैतज्जीर्यति'** इस तर्कका भी ब्रह्मपुरको जीर्ण या नष्ट प्रमाणित करनेमें उपयोग नहीं होसकता । और यदि ऐसा होता तो **'एतत्सत्यं ब्रह्म पुरम्'** यह अग्रिम अंश ब्रह्मपुरको सत्य क्यों कहता । अतः 'ब्रह्मपुर' शब्दका अर्थ शरीर आदि कोई अनित्य वस्तु नहीं है, किन्तु नित्य लीला—स्थान ही अर्थ है ।

पूर्वपक्षी—तुम्हारे मतानुसार तो संपूर्ण प्रपञ्च सत्य है, फिर 'ब्रह्मपुर' शब्दका अर्थ कोई प्रापञ्चिक वस्तु ही क्यों न मान ली जाय?, नित्य लीला—स्थान ही क्यों?।

सिद्धान्ती—**'एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम्'** इसके अनन्तर ही **'अस्मिन्कामाः समाहिताः'** इस अंशसे "ब्रह्मपुरमें नित्य—लीला—प्रविष्ट भक्तोंके लिये आनन्द—भोगके साधन रक्खे हुए हैं" यह वर्णन है और यह आनन्दभोगके साधनोंका रखना किसी प्रापञ्चिक वस्तुमें संभव नहीं है । अतः 'ब्रह्मपुर'—शब्दका अर्थ कोई प्रापञ्चिक वस्तु नहीं होसकती ।

लीलासम्बन्धी पदार्थ प्रापञ्चिक पदार्थोंसे भिन्न और इनके सदृश हैं ।

पूर्वपक्षी—प्रस्तुत श्रुतिके **'यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः, उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी समाहिते'** इस अंशसे ब्रह्मपुरमें आकाश, अन्तरिक्ष, पृथिवी आदि पदार्थोंका वर्णन किया है और ये सब प्रपञ्चके अन्तर्गत हैं, इसलिये 'ब्रह्मपुर'—शब्दका 'प्रपञ्च' अर्थ मानना ही उचित है ।

सिद्धान्ती—प्रस्तुत श्रुतिमें ब्रह्मपुरान्तर्गत आकाशको प्रापञ्चिक आकाशके सदृश (यावान्वाऽयमाकाशः) कहा है और यह तभी संभव है जब कि ब्रह्मपुरान्तर्गत

और प्रापञ्चिक आकाश परस्पर भिन्न हों, क्योंकि कोई भी वस्तु आप अपने समान नहीं कही जासकती। और यह आकाशको प्रापञ्चिक आकाश सदृश कहना उपलक्षण है, इसलिये प्रस्तुत श्रुतिमें वर्णित अन्तरिक्ष, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी आदि जितने पदार्थ हैं, सभी, प्रापञ्चिक अन्तरिक्ष–सूर्य–चन्द्र–नक्षत्रोंके सदृश और इनसे भिन्न हैं—यह भी इससे प्रमाणित होता है। अतः 'ब्रह्मपुर' शब्दका प्रपञ्च अर्थ कहना योग्य नहीं।

पूर्वपक्षी—'अस्मिन् कामाः समाहिताः' इस श्रुत्यंशसे तो 'ब्रह्मपुर' शब्दका शरीर अर्थ मानना ही ठीक मालूम होता है, क्योंकि 'काम' शब्दका मनोरथ अर्थ है और मनोरथ शरीरान्तर्गत आत्मामें ही उत्पन्न होते हैं।

सिद्धान्ती—अवश्य ठीक मालूम होता, यदि श्रुति, **'कामाः समाहिताः'** न कह कर 'कामा उत्पन्नाः' कहती, परन्तु श्रुतिने ऐसा नहीं कहा। और 'समाहिताः' इसका अर्थ "रक्खे हुए या धरे हुए" होता है, उत्पन्न हुए यह नहीं होता, फिर मनोरथ ऐसी वस्तु नहीं जो रक्खी जाय या धरी जाय। इसलिये हम 'काम' शब्दका अर्थ काम–भोग–साधन मानते हैं। अलौकिक काम और आनन्द एक ही वस्तु है, इसलिये 'आनन्द–भोग–साधन' शब्दसे इनका प्रथम, परिचय दिया है। और इनका रखना किसी शरीरमें संभव नहीं है, इसीलिये 'ब्रह्मपुर' शब्दका भी नित्यलीला–स्थान अर्थ ही स्वीकार किया है।

लीलास्थान और लीलाप्रविष्ट भक्त ब्रह्मात्मक हैं।

पूर्वपक्षी—'अस्मिन् कामाः समाहिताः' इस वाक्यके अनन्तर ही **'एष आत्माऽपहतपाप्मा'** इस अंशसे पूर्वोक्त ब्रह्मपुरको आत्मा कहा है। यदि यह नित्यलीला–स्थान होता तो श्रुति इसे आत्मा कैसे कहती?।

सिद्धान्ती—नित्यलीला–स्थान है, इसीलिये तो श्रुति आत्मा कहती है, क्योंकि लीला–सम्बन्धी कोई भी पदार्थ अनात्मा–जड–नहीं है, सभी भगवत्स्वरूप हैं। प्रकृत श्रुतिमें ही **'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराऽऽकाशः'** इस अंशसे लीला–सम्बन्धी जिस पुण्डरीक वेश्म (भक्त हृदय–कमल) और तदन्तर्गत आकाशको (परम-व्योम) दहर कहा है उसीको भगवान् वेदव्यास **'दहर उत्तरेभ्यः'** इस सूत्रसे ब्रह्म कहते हैं। यदि ये दोनों भी अनात्मा होते तो भगवान् वेदव्यास इनको ब्रह्म कैसे कहते।

और बृहद्वामन–पुराणके ब्रह्म–भृगु–संवादमें एक श्रुतियोंकी कथा है जिसमें—

'ब्रह्मेति पठ्यतेऽस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम्।
वाङ्मनो–गोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत्॥

आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविदः ।
तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि नः ॥'

इन श्लोकोंके द्वारा श्रुतियोंने भगवान्से प्रार्थना की है कि 'यदि आप हमें वर देना चाहते हैं तो उस रूपको दिखावें जिसे हम मन वाणीसे पर निर्गुण ब्रह्म कहती हैं और जिसे प्राचीन विद्वान् केवल आनन्दमय कहते हैं ।' भगवान्ने इस प्रार्थनाको सुन कर **'यत्र वृन्दावनं नाम'** इत्यादि अग्रिम श्लोकोंसे वर्णित वृन्दावन, गोवर्द्धन, यमुना आदि नित्यलीला-परिकर और अपना स्वरूप दिखाया है । यदि नित्य-लीला-परिकर ब्रह्मस्वरूपके अन्तर्गत न होता तो ब्रह्म-दर्शनकी इच्छासे प्रार्थना करनेपर श्रुतियोंको इस नित्य-लीला परिकरके दर्शन भगवान् न कराते । अतः प्रस्तुत 'दहर' श्रुतिमें जो नित्यलीला-स्थान ब्रह्मपुरको आत्मा कहा है यह योग्य ही है ।

अत एव प्रलयके समय पृथ्वीके न रहने पर भी इसका वर्तमान रहना असङ्गत नहीं है, क्योंकि ब्रह्म-स्वरूपके अन्तर्गत होनेसे इसका धारण ब्रह्म ही करता है । ऐसे ही आनन्दमय ब्रह्मात्मक अन्य पदार्थ भी समझ लिये जाँय । यही **'ये त्यक्तलोकधर्मांश्च मदर्थे तान् विभर्म्यहम्'** (अर्थ—अलौकिक त्यक्तलोकधर्म पदार्थोंका धारण पोषण मैं करता हूँ) इस वचनके द्वारा भगवान्ने कहा है ।

पूर्वपक्षी—लोकमें आधार, आधेय सर्वत्र परस्पर भिन्न ही दृष्टि-गोचर होते हैं, इसलिये लीलाविशिष्ट ब्रह्म-स्वरूपके आधार यदि गोकुल वृन्दावन हैं तो इनको ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न मानना परम आवश्यक है । और भिन्न भी अत्यन्त भिन्न, क्योंकि वृक्षोंमें परस्पर जैसा भेद माना जाता है, ऐसा सजातीय भेद तो यहाँ मान नहीं सकते । कारण यही कि अनेक ब्रह्म मानना **'एकमेवाद्वितीयम्'** इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे विरुद्ध है ।

सिद्धान्ती—लौकिक आधार, आधेय 'प्रत्यक्ष'-प्रमाणसे भिन्न प्रतीत होते हैं, इसलिये इन्हें भिन्न मानना ठीक है, परन्तु गोकुल, वृन्दावन और लीला-विशिष्ट भगवत्स्वरूपका सिवा श्रुति-स्मृति-पुराणोंके प्रत्यक्ष, अनुमान आदि अन्य किसी भी प्रमाणसे पारस्परिक भेद या अभेद कुछ भी मालूम नहीं होता । अतः दहराधिकरणकी श्रुति और बृहद्वामनपुराणके वचनोंके अनुसार भगवत्स्वरूप और लीलाऽधिकरणोंका जो अभेद प्रतीत होता है उसे स्वीकार करना चाहिये, लोकदृष्टिसे इसका निषेध करना योग्य नहीं । और जैसा यह भगवत्स्वरूपका गोकुल, वृन्दावन आदि अधिकरणोंके साथ अभेद है, ऐसा ही लीला-प्रविष्ट भक्तोंके साथ भी है । **'यदक्षरे परमे प्रजाः'** (अर्थ—अक्षर-ब्रह्मात्मक नित्यलीलास्थानमें जो ब्रह्म (प्रजाः) जनस्वरूप है) यह

श्रुति इसी आशयको कहती है। यह केवल उपलक्षण है, इसलिये ऐसा ही अभेद सभी नित्य–लीला–परिकरके साथ समझ लेना चाहिये ।

और **'एकमेवाद्वितीयम्'** इस भेद–निषेधकी सीमा तो केवल यहीं तक है कि नाना रूपोंसे प्रतीत होते हुए ब्रह्ममें पारस्परिक भेद बुद्धि न हो, परन्तु इससे वृक्ष-शाखावत् तादात्म्य–शरीरमें प्रविष्ट हुए भेदका निषेध नहीं होता । अतः भगवत्स्वरूपका नित्यलीला–परिकरके साथ ऐसा भेद स्वीकार करना अयोग्य नहीं है ।

मिथिला कुरुक्षेत्र इत्यादि नित्यलीला–स्थान क्यों नहीं ?।

पूर्वपक्षी—भगवान्ने जैसे गोकुल, मथुरा, वृन्दावन आदि स्थानोंमें लीला की है, ऐसे ही कुरुक्षेत्र, मिथिला, सुतल, संयमनी–पुरी आदि प्रदेशोंमें भी की है—कौरव–पाण्डवोंके युद्धके समय कुरुक्षेत्रमें, बहुलाश्व और श्रुतदेव पर अनुग्रह करनेके लिये मिथिलामें, देवकीजीके मृत पुत्रोंको लानेके लिये बलिके पास सुतलमें और गुरु–पुत्रके लिये भगवान् संयमनी पधारे थे–अतः ये भी, नित्यलीला–स्थान क्यों न माने जाँय?।

सिद्धान्ती—मिथिला, कुरुक्षेत्र आदि प्रदेशोंमें भगवान् किसी कार्य–वश कुछ समयके लिये पधारे थे इससे ये नित्य–लीला–स्थान नहीं होसकते । और यदि ऐसा होता तो जैसे मथुरा, वृन्दावन आदि स्थानोंके विषयमें **'मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः' 'यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः'** इत्यादि माहात्म्य–बोधक विशेष–वचन मिलते हैं, ऐसे ही मिथिला, कुरुक्षेत्र आदि स्थानोंके विषयमें भी मिलते, अतः मिथिला, कुरुक्षेत्र आदि प्रदेशोंको नित्यलीला–स्थान नहीं कह सकते ।

नित्यलीला–सम्बन्धी काल भी नित्य है ।

पूर्वपक्षी—रसात्मक नित्य–लीलाके लिये जैसे परमसुन्दर नित्य–सिद्ध गोकुल, गोवर्द्धन आदि प्रदेशोंकी अपेक्षा होती है, ऐसे ही योग्य कालकी भी अवश्य होगी। क्योंकि शारद–निशा, वसन्त आदि उद्दीपक समयोंके सिवा अन्य समयमें भाव पुष्ट होकर रस नहीं बनता इसलिये रसात्मक लीला हो नहीं सकती। अतः लीलाको नित्य सिद्ध करनेसे प्रथम यह बताना चाहिये कि वह उद्दीपक समय नित्य है या अनित्य?। नित्य है यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि सर्वदा शारद–निशा या वसन्तका वर्तमान रहना असंभव है। लोकमें ऐसा कोई उदाहरण नहीं जिससे किसी साक्षरको इसपर विश्वास होसके। यदि अनित्य है तो इससे सम्बन्ध रखनेवाली लीला नित्य कैसे ?।

(४९) **सिद्धान्ती**—व्रजकुमारियोंको वर–प्रदान करते समय **'मयेमा रंस्यथ क्षपाः'** इस वचनमें प्रत्यक्ष–वस्तु–वाचक 'इमा' इस शब्दसे लीला–सम्बन्धिनी अग्रिम रात्रियोंको भगवान्ने वर्तमाना कहा है और वर्तमान रहना तभी संभव है जब कि ये

नित्या हों । अतः इन शारद रात्रियोंको नित्य मानना अवश्य प्राप्त है । जैसे ये शारद रात्रियाँ नित्य हैं, ऐसे ही लीला-सम्बन्धी अन्य उद्दीपक समयोंको भी नित्य समझो । ये उद्दीपक समय अलौकिक हैं, इनका स्वरूप केवल श्रुति-पुराण आदि प्रमाणोंसे ही मालूम होता है, इसलिये इनके स्वरूपपर विश्वास भी इन प्रमाणोंके बलसे ही होता है, इसके लिये किसी लौकिक उदाहरणकी अपेक्षा नहीं है ।

पूर्वपक्षी—वरप्रदानके समय जो रात्रि वर्तमाना है उसकी समानताका आगामिनी रात्रियोंमें आरोप करनेसे भी 'इमाः' इस प्रयोगका होना संभव है । अथवा 'इदम्' शब्द बुद्धिस्थ वस्तुका बोध कराता है यह भी अनेक स्थलोंमें देखा गया है, इसलिये संभव है कि यहाँ भी ऐसा ही हो । अतः केवल 'इदम्' शब्दके 'इमाः' इस प्रयोगसे ही लीला-सम्बन्धिनी रात्रियोंको नित्य प्रमाणित नहीं कर सकते ।

सिद्धान्ती—**'मयेमा रंस्यथ क्षपाः'** यह भगवान्का वरदान-वचन चीर-हरण लीलाके प्रसङ्गमें है और चीर-हरणलीला प्रातःकाल व्रजकुमारिका जब स्नान कर रहीं थी तब हुई है । यदि रात्रिमें होती तो संभव था कि भगवान् वर्तमान रात्रिकी समानताका अग्रिम रात्रियोंमें आरोप कर 'इमा' ऐसा प्रयोग करते । और 'इमा-इसका बुद्धिस्थ-वस्तु-वाचक होना भी तब संभव है जब कि यह वरदान-वचन ईश्वरका वचन न हो, किसी जीवका वचन हो, क्योंकि ईश्वर सत्य-सङ्कल्प है । इसके चित्तमें वस्तुकी प्रत्यक्षताका भाव उदय होते ही वस्तु प्रत्यक्ष होजाती है, फिर उसमें बुद्धि-कल्पित प्रत्यक्षताके स्वीकार करनेकी अपेक्षा नहीं होती । अतः भगवान्के कथनके समय आगामि-रात्रियोंको वर्तमान मानना आवश्यक है ।

पूर्वपक्षी—यदि लीला और लीलाका समय दोनों भी नित्य हैं तो लीला-प्रसङ्गमें **'एष्यामि ते गृहं सुभ्रूः'** इत्यादि भविष्यत्काल-वाचक शब्दोंका प्रयोग न करना चाहिये, क्योंकि सभी सर्वदा वर्तमान है, भविष्यत् कोई भी नहीं हैं ।

सिद्धान्ती—यद्यपि लीला और लीला-सम्बन्धी काल सभी सर्वदा वर्तमान हैं, परन्तु इनका आविर्भाव क्रमसे होता है । अतः जिस लीला और कालका आगे आविर्भाव होनेवाला है उसके विषयमें 'एष्यामि' 'आयास्य' इत्यादि भविष्यत्कालवाचक शब्दोंका उपयोग किया जाता है । इससे लीला या तत्सम्बन्धी काल अनित्य प्रमाणित नहीं होसकते ।

पूर्वपक्षी—जिस लीला और कालका आगे आविर्भाव होगा उसका प्रथम भक्तोंको अनुभव है या नहीं? । यदि है तो क्या अनुभव-होनेके अनन्तर भी आविर्भावकी आवश्यकता होती है, यदि नहीं है तो लीला अनित्य सिद्ध होगई, क्योंकि भक्तोंके

विना लीला होती नहीं, और ऐसा हो नहीं सकता कि भक्तोंके साथ लीला होती रहे और उनको मालूम न हो।

सिद्धान्ती—भगवान्‌की अनेक लीला हैं और भिन्न २ भक्तोंको भिन्न २ लीलाओंका अनुभव होता है, एक भक्तको जिस लीलाका इस समय अनुभव नहीं है उसीका दूसरेको अनुभव होरहा है। अतः जिस भक्तको इस समय लीलाका अनुभव नहीं है उसकी दृष्टिसे लीलाका आविर्भाव होगा यह कह सकते हैं।

पूर्वपक्षी—यह तो ठीक है, परन्तु इससे **‘एष्यामि ते गृहं सुभ्रूः’** इसका समाधान नहीं होसकता, क्योंकि जिस कुब्जाको भगवान् कह रहे हैं कि ‘मैं तेरे घर आऊँगा’ उसीके घर यदि भगवान् इस समय जारहे हैं, तब तो ‘आऊँगा’ यह कहना मिथ्या है। यदि इस वचनके अनुसार पीछे जाएँगे तो जब तक न जाएँगे तब तक कुब्जा–गृह–गमन–लीला नहीं है यह अवश्य स्वीकार करना ही होगा। और ऐसा तो हो नहीं सकता कि इस कथनके समय ‘कुब्जा–गृह–गमन’–लीलाका किसी दूसरेको अनुभव होरहा हो, क्योंकि इस लीलाकी आलम्बन–स्वरूपा जो कुब्जा है उसीको अनुभव नहीं है तो दूसरेको कहाँसे।

सिद्धान्ती—‘रसो वै सः’ इस श्रुतिके अनुसार जैसे भगवान् रसात्मक हैं, ऐसे ही भगवान्‌की लीला भी रसात्मक है और रसशास्त्रके अनुसार रसकी पुष्टि जब विभाव अनुभाव संचारी आदि सब एकत्रित होजाते हैं तब होती है। अतः ‘एष्यामि ते गृहं सुभ्रूः’ ‘आयास्य इति दौत्यकैः’ इत्यादि भगवद्वचनोंका केवल उपयोग इतना ही है कि भगवान् ‘हमारे घर आएँगे’ इस औत्सुक्यसञ्चारिभावके द्वारा कुब्जा, गोपियाँ आदि व्रज–भक्तोंके भावोंका पुष्ट होना और पुष्ट होकर रसात्मक–लीलाओंके स्वरूपसे परिणत होना। अतः ‘एष्यामि’ इत्यादि वचनोंके उच्चारणके समय लीला विद्यमान नहीं थी यह सिद्ध नहीं होता और लीलाकी नित्यता यदि युक्तियोंसे सिद्ध होती तो यह दोष अवश्य अनिवार्य था, परन्तु यह तो श्रुति–स्मृति पुराणोंसे सिद्ध होती है, इसलिये इसमें इस बुद्धि–कल्पित यौक्तिक दोषसे कोई बाधा नहीं पहुँच सकती।

और यह लीला रसात्मा, भगवत्स्वरूपा है, इसलिये जैसे भगवान् विरुद्धधर्माधार है, ऐसे ही यह भी विरुद्ध धर्माधार है। जैसे भगवान्‌के विरुद्ध धर्म परस्परकी बाधा नहीं करते, ऐसे ही इस लीलाके ये भविष्यत्व–नित्यत्व धर्म भी परस्परकी बाधा नहीं करते। ऐसे ही अन्यान्य लीलाओंमें भी वर्तमानत्व, भूतत्व, भविष्यत्त्व आदि धर्म समझ लिये जाँय।

आधुनिक भक्त भी नित्यलीलाके अधिकारी हैं।

(५०) **पूर्वपक्षी**—नित्य–लीलामें जो भक्त प्रथमसे विद्यमान हैं वेही सर्वदा रहते

हैं, या नित्यलीला–प्रवेशकी इच्छा रखनेवाले आधुनिक साधन–संपन्न भक्तका भी प्रवेश होसकता है? । यदि प्रथमसे विद्यमान हैं वे ही रहते हैं तो इस समय जो लीला–प्रवेशकी इच्छासे साधनानुष्ठान करते हैं यह व्यर्थ है । यदि आधुनिक भक्तोंका भी प्रवेश होसकता है, तो इनके साथ होनेवाली–लीला नई होनेसे अनित्य प्रमाणित होजायगी ।

सिद्धान्ती—बृहद्वामन–पुराणके—

‘स्त्रियो वा पुरुषो वाऽपि भर्तृभावेन केशवम् ।
हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः’ ॥

अर्थ–जो स्त्री या पुरुष हृदयमें पतिभावसे भगवान्का चिन्तन करता है वह श्रुतियोंकी गतिको (नित्यलीलाको) प्राप्त होता है ।

इस वचनमें भर्तृभावसे जो भगवान्का भजन करते हैं उन सभीके लिये नित्य–लीला–प्राप्ति फल कहा है, इसलिये “आधुनिक भक्तोंका नित्य–लीलामें प्रवेश होता है” यह तो निश्चित है । और इससे लीला अनित्य भी नहीं होसकती, क्योंकि जो प्रमाणैकगम्य वस्तु है उसमें जैसा प्रमाण कहै वैसा ही स्वीकार करना आवश्यक होता है । जैसे नैयायिक लोग, घट, पट आदि सावयव पदार्थोंको अनित्य मानते हुए भी इनसे सम्बन्ध रखनेवाले ईश्वर ज्ञानको कर्तृत्व–साधक अनुमानोंके बलसे नित्य मानते हैं, इसी प्रकार **‘जयति जननिवास’** इत्यादि पूर्वोक्त प्रमाणोंके अनुरोधसे इस आधुनिक–भक्त–सम्बन्धिनी लीलाको भी नित्य मानना आवश्यक है ।

और वस्तुतः आधुनिक–भक्त–सम्बन्धिनी लीला नई नहीं है, किन्तु सर्वदा वर्तमान रहनेवाली अनादि लीलाका ही भगवान्के अनुग्रहसे आधुनिक भक्तोंको अनुभव होता है, जैसे कि मायावादियोंके मतमें नित्य–सिद्ध मोक्षका महावाक्योत्पन्न ज्ञानसे लाभ होता है । अतः अनित्य प्रमाणित होनेकी कोई आपत्ति नहीं है ।

लीला–प्राप्तिका कारण ।

पूर्वपक्षी—लोकमें ऐसा देखते हैं कि क्रीडा प्रायः समानोंमें होती है, अधिक उच्च नीचोंमें नहीं होती । यदि ग्रामसे बाह्य प्रदेशमें निवास करनेवाली कोई चाण्डाली अन्तःपुरमें प्रविष्ट होकर महाराजके विहार–सुखका अनुभव करना चाहे तो संभव नहीं कि उसे मिल सके, फिर इस तुच्छ जीवको परमात्माकी अत्यन्त अन्तरङ्ग नित्य–लीलामें प्रवेश करनेका सौभाग्य प्राप्त होसकता है यह कैसे संभव है ? ।

सिद्धान्ती—यद्यपि जीवकी तो ऐसी योग्यता नहीं है कि नित्यलीला–प्रवेशका सौभाग्य प्राप्त करे, क्योंकि श्रुतियोंके लीला–प्रवेश–मनोरथको भी **‘दुर्लभो दुर्घटश्चैष**

युष्माकं सुमनोरथः’ इस वचनसे भगवान् दुर्लभ और दुर्घट बताते हैं, परन्तु भगवान्की इच्छापर किसीका अधिकार नहीं है, भगवान् यदि चाहें तो अत्यन्त नीचको भी नित्यलीलामें स्वीकार कर सकते हैं और न चाहें तो उच्च–कोटि के जीव भी कई जन्मपर्यन्त प्रयत्न करते रहें और पता भी न लगे । इसलिये इसमें तो केवल भगवान्का अनुग्रह ही कारण है । यही भगवान्ने ‘**मयाऽनुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हति**’ इस वचनसे श्रुतियोंके मनोरथका अनुमोदन करते हुए कहा है ।

और यदि मर्यादा–दृष्टिसे विचार किया जाय, तथापि गीतामें भगवान्ने—‘**ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम्**’ इस वचनसे “जो जैसे भावसे मेरे शरण आते हैं उनकों वैसे ही भावसे मैं स्वीकार करता हूँ” यह कहा है, इसलिये ‘**स्त्रियो वा पुरुषो वाऽपि**’ इस वचनके अनुसार सर्वात्मभावसे भजनेवालोंका नित्य–लीलामें स्वीकृत होना निश्चित ही है ।

और ऋग्वेदके ‘**ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास**’ इस मंत्रमें जो ‘नित्य’–शब्द–समानार्थक ‘ध्रुवासः’ इस पदसे भक्तोंको नित्य कहा है, इससे भी यह निश्चित होता है कि आधुनिक भक्त लीलामें प्रविष्ट होसकते हैं, क्योंकि यदि जीवोंको लक्ष्य कर भक्तोंको नित्य कहा है तो आत्माओंकी नित्यता अनेक–श्रुति–सिद्ध है, इसलिये वामनावतार वर्णनके प्रसङ्गमें यह नित्य कहना व्यर्थ है । यदि सशरीर भक्तोंको नित्य कहा है तो यह विना नित्यलीलाके अन्यत्र संभव नहीं है ।

नित्यलीलाका भी क्रमसे अनुभव ।

(५१) **पूर्वपक्षी**—भक्तोंको लीलाका क्रमसे अनुभव होता है यह तुम प्रथम स्वीकार कर चुके हो और लोकमें क्रमका सम्बन्ध उसी वस्तुके साथ देखा जाता है जो कि जन्य हो, अनित्य हो । अतः जन्यत्व–हेतुक और क्रमिकत्व–हेतुक अनुमानसे यह लीला अनित्य प्रमाणित होती है ।

सिद्धान्ती—लीलाका क्रमसे आविर्भाव होता है, इसलिये इसका अनुभव भी भक्तोंको क्रमसे होता है, परन्तु इससे लीला जन्या प्रमाणित नहीं होसकती । अत एव जन्यत्व–हेतुक अनुमानसे अनित्य सिद्ध करनेकी चेष्टा करना भी व्यर्थ है ।

पूर्वपक्षी—लौकिक पदार्थोंका भी तो तुम आविर्भाव ही मानते हो जिसे कि हम उत्पत्ति कहते हैं, फिर उस आविर्भाव और इस लीलाऽऽविर्भावमें अन्तर क्या है जो इस लीलाको जन्या नहीं मानते हो ।

सिद्धान्ती—जब कि प्रापञ्चिक पदार्थ और इस लीलाके स्वरूपमें ही अन्तर है तो इनके आविर्भावोमें अन्तर क्यों न होगा । और अन्तर न होता तो प्रापञ्चिक प्रमा-

णित होजानेसे प्रपञ्चको नित्य कहना ही पर्याप्त था, फिर इस लीलाको पृथक् नित्य कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी, इसलिये अन्तर अवश्य है और इस अन्तरका वर्णन भी प्रथम होचुका है । अतः प्रमाणोंके अनुरोधसे, जैसे कुम्भकार आदि लौकिक कर्ताओंके प्रयत्नको अनित्य मानते हुए भी ईश्वरके प्रयत्नको नित्य मानते हैं, ऐसे ही इस लीलाको भी नित्य मानना आवश्यक है ।

पूर्वपक्षी—यदि लीला नित्य होती तो सर्वदा वर्तमान रहनेसे लीलाप्रसङ्गमें कहीं प्रातःकालकी लीलाका सायङ्कालमें और बाल्यकी लीलाका पौगण्ड अवस्थामें भी निरूपण किया होता, परन्तु ऐसा कहीं देखनेमें आया नहीं, इसलिये लीलाकी नित्यता श्रद्धेय हो नहीं सकती ।

सिद्धान्ती—हाँ ठीक है, ऐसा निरूपण नहीं है, परन्तु ऐसा निषेध भी तो नहीं है कि प्रातः-कालकी लीला सायङ्कालमें नहीं रहती है और बाल्यकी पौगण्डमें नहीं रहती है, फिर अनन्तरकी लीलाके समय पूर्वकी लीला वर्तमान नहीं है यह भी कैसे समझा? । और जब कि शतशः वचन लीलाको नित्य कह रहे हैं तो यह क्यों न माना जाय कि अनन्तरकी लीलाके समय पूर्वकी लीला वर्तमान रहती है, परन्तु भगवान्‌की इच्छा अनुकूल न होनेसे अनन्तरकी लीलाके अनुभव करनेवाले भक्तोंको उस समय उसका अनुभव नहीं होता है । इसीलिये शास्त्र भी उस समय वह है या नहीं यह कुछ नहीं कहते, उदासीन रहते हैं । और प्रत्येक लीलाको पृथक् २ नित्य कहनेकी कोई आवश्यकता भी नहीं है । एक दो स्थलोंमें कहनेसे ही सर्वत्र समझ लीजाती है । अतः लीलाकी नित्यतामें कोई सन्देह नहीं है ।

पूर्वपक्षी—लीला क्रिया-स्वरूपा है और क्रियाकी सत्ता तीनक्षण पर्यन्त ही रहती है ऐसा नियम है, यदि लीला नित्य मानी जाय तो इस नियमका भङ्ग होजाता है । अतः ऐसा मानना उचित नहीं ।

सिद्धान्ती—ज्ञान भी तीन-क्षण-पर्यन्त रहता है ऐसा नियम है, फिर ईश्वरीय-ज्ञानको नित्य क्यों मानते हो? । यदि प्रमाणोंके अनुरोधसे वहाँ ऐसा स्वीकार करना आवश्यक है तो यहाँ भी यही बात है ।

प्रभासमें कीगई लीला ।

(५३) **पूर्वपक्षी**—यदि भगवान्‌की सभी लीला नित्य हैं तो प्रभास-क्षेत्रमें जो भगवान्‌ने देह-त्याग लीला की है यह भी नित्य ही होगी ।

सिद्धान्ती—भगवान्‌का देह मनुष्य-देहके समान पञ्चमहाभूतोंसे बना हुआ नहीं है, किन्तु अपने स्वरूपसे अभिन्न सच्चिदानन्दमय है, क्योंकि गीतामें **'यस्यान्तःस्थानि**

भूतानि' (जिसके भीतर संपूर्ण जगत् है) इस वचनसे भगवान्‌ने सर्व–जगदाधारताको ब्रह्मका लक्षण बताया है और मृत्स्ना भक्षणके प्रसङ्गमें अपने मुखमें संपूर्ण जगत् दिखा कर अपने देहकों इसका आधार प्रमाणित कर दिया है।

इसके अतिरिक्त दामोदर–लीलामें बन्धन–रज्जुकी न्यूनताके वर्णनसे जो भगवान् श्रीकृष्णके शरीरकी अपरिच्छिन्नता सूचित की है, उससे भी श्रीकृष्ण–शरीर ब्रह्म–स्वरूप है यह प्रमाणित होता है, क्योंकि **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** यह श्रुति 'अनन्त' पदसे अपरिच्छिन्नताको ब्रह्मधर्म कहती है। अतः ऐसे ब्रह्मात्मक शरीरका त्याग नहीं होसकता। और प्रभासीय लीलाके वर्णनमें श्रीकृष्णने शरीर–त्याग किया है ऐसा कहीं उल्लेख भी नहीं है, इसलिये यह शङ्का करना ही व्यर्थ है।

पूर्वपक्षी—'योगधारणयाऽऽग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत्स्वकम्' इस वचनमें योगाग्निसे श्रीकृष्ण–शरीरके दग्ध होनेका स्पष्ट ही उल्लेख है, इसलिये दामोदर–लीला और मृत्स्ना–भक्षण लीलाके उदाहरणोंसे श्रीकृष्ण–शरीर सच्चिदानन्दमय नहीं प्रमाणित होसकता।

सिद्धान्ती—श्रीधरस्वामी आदि सभी व्याख्या–कारोंने **'योगधारणयाऽऽग्नेय्याऽदग्ध्वा'** इस वचनमें 'अदग्ध्वा' पदच्छेद कर "श्रीकृष्ण अपने स्वरूपसे नित्य–लीला–धामको पधारे थे" ऐसी व्याख्या की है, इसलिये इससे देहत्याग करना प्रमाणित नहीं होता।

पूर्वपक्षी—पूर्वोक्त श्लोकमें तो 'अदग्ध्वा' इस पदच्छेदका होना संभव है और कुछ टीका–कारोने किया भी है इसलिये विपरीत अर्थ करना किसी प्रकार ठीक है, परन्तु **'ययाऽहरद्भुवो भारं तां तनुं विजहावजः'** (अर्थ–जिससे भूभार–हरण किया था उस शरीरका भगवान्‌ने त्याग किया) इस प्रथमस्कन्धकी अर्जुनोक्तिमें तो स्पष्ट ही देह–त्याग करनेका उल्लेख है और इसका किसी टीका–कारने विपरीत अर्थ भी नहीं किया है।

सिद्धान्ती—'अज्ञत्वं पारवश्यं च विधिभेदादिकं तथा। तथा प्राकृत–देहत्वं देहत्यागादिकं तथा। असुराणां विमोहाय दोषा विष्णोर्नहि क्वचित्'।

ब्रह्म–पुराणके इन श्लोकोमें भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपको निर्दोष कहा है और अज्ञत्त्व, (मूर्खता) पारवश्य, वेदविरुद्धाचरण, लौकिकदेह, देहत्याग आदि धर्मोंको मायिक (असत्य) कहा है। अतः जन्मके समय जैसा (**बभूव प्राकृतः शिशुः**) लौकिक बालक बननेका नाट्य दिखाया है, ऐसा ही यह प्रभासमें योगाग्निके द्वारा देहत्याग करना भी नाट्यमात्र है, वस्तुतः देहत्याग नहीं है। इसीलिये **'योगधारण-**

याऽऽग्नेय्या' इसकी व्याख्यामें सभी व्याख्याकारोंने 'अदग्ध्वा' पद निकाल कर शरीर–त्याग स्वीकार नहीं किया है। और पूर्वोक्त वचनमें भी जिससे भगवान्‌ने भूभारका हरण किया है उस देहका त्याग कहा है, जिससे अन्य लीला की हैं उसका त्याग नहीं कहा। इससे यही सिद्ध होता है कि आन्तरालिक–सृष्टिरूप मायिक देह, जिससे आपके स्वरूपमें द्रष्टाओंकी 'यह प्राकृत है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, उसीका त्याग किया है, मूल–स्वरूप अथवा व्यूह–स्वरूपका त्याग नहीं किया।

प्रभासमें मायिक कुल नष्ट हुआ, लीला–प्रविष्ट यादव नष्ट नहीं हुए।

(५६) **पूर्वपक्षी—**पूर्वोक्त ब्रह्मपुराणके वचनोंसे तो केवल "श्रीकृष्णकी शरीर–त्याग लीला मायिकी है" यह प्रमाणित होता है, और प्रभासीय–लीलाके प्रसङ्गमें तो **'संजह्रे स्वकुलं विभुः'** (अर्थ–भगवान्‌ने यादव कुलका संहार किया) इस वचनसे लीला–प्रविष्ट यादवोंके नाशका भी वर्णन किया है, इसलिये लीलाकी नित्यता तो फिर भी सिद्ध नहीं हुई।

सिद्धान्ती—'संजह्रे स्वकुलं विभुः' इस वचनमें भी 'स्वकुलम्' ऐसा पदच्छेद नहीं हैं, किन्तु 'अस्वकुलम्' पदच्छेद है, इसलिये इससे भी "अपने कुलका नहीं, किन्तु अन्य मायिक कुलका संहार किया" यही प्रमाणित होता है।

पूर्वपक्षी—'संजह्रे स्वकुलं विभुः' इसमें तो कहीं मायाका नाम भी नहीं है, फिर "मायिक कुलका संहार किया" यह अर्थ कहाँसे निकल पडा यह कुछ समझमें नहीं आता। और इस एक वचनमें किसी प्रकार 'अस्वकुलम्' पदच्छेद कर भी लिया जाय, परन्तु यादव–नाशको कहनेवाले तो **'यदून्यदुभिरन्योन्यं भूभारान् संजहार ह'** (अर्थ–यादवोंके द्वारा ही यादवोंका संहार कर भूभार दूर किया) **'संहर्तुमैच्छत कुलम्'** इत्यादि अनेक वचन हैं और इनमें विपरीत पदच्छेद कर अर्थका परिवर्तन करना संभव नहीं है। अतः यादवकुल–नाश तो वास्तविक ही प्रमाणित होता है।

(५३) **सिद्धान्ती—'राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य'** (अर्थ–हे राजन् यह यादवोंका उत्पन्न होना और नष्ट होना केवल परमात्माकी माया है, जैसे किसी नटकी माया होती है) इस वचनसे भगवान् शुकाचार्यने यादवोंके उत्पत्ति–नाशोंको मायिक कहा है, इसलिये वास्तविक नहीं मान सकते।

और **'संहर्तुमैच्छत कुलम्'** इस वचनमें तो 'स्वकुल' या 'यादव–कुल' शब्दका प्रयोग ही नहीं है, केवल 'कुल' शब्दका प्रयोग है, इसलिये इससे कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होसकती। केवल **'यदून्यदुभिरन्योन्यम्'** यह वचन ऐसा है कि इसमें 'यदु'–शब्दका स्पष्ट उपादान होनेसे जिज्ञासुको भ्रम होसकता है। अतः इसकी निवृत्ति **'राजन् परस्य'** इस उपर्युक्त वचनसे करनी चाहिये।

पूर्वपक्षी—'राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा' इसकी व्याख्या तो 'श्रीधर' स्वामीने "तनुभृत्सु यादवादिषु भगवत आविर्भाव–तिरोभावचेष्टा" अर्थात् 'यादव आदि शरीर–धारियोंमें भगवान्‌की आविर्भाव और तिरोभावकी चेष्टा' ऐसी की है, इसलिये इससे तो भगवान्‌के आविर्भाव–तिरोभाव मायिक प्रमाणित होते हैं, यादवोंके नहीं होते।

सिद्धान्ती—'यादव आदि शरीरधारियोंमें' इस अंशके कहनेकी इस वचनमें कोई आवश्यकता नहीं है, भगवान् यदुकुलमें प्रकट हुए हैं यह तो और भी अनेक वचनोंसे सिद्ध है, इसलिये ऐसा अर्थ करनेमें 'तनुभृत्' शब्द व्यर्थ होता है। और यदि भगवान्‌के ही आविर्भाव–तिरोभावोंको मायिक कहना था तो **'तनुभृज्जननाप्ययेहा'** ऐसा न कह कर 'भगवज्जननाप्ययेहा' (अर्थ–भगवान्‌की आविर्भाव–तिरोभाव–चेष्टा) ही कहते, जिससे फिर किसी प्रकार सन्देह ही न रहता।

(५५) और केवल मायिक प्रमाणित होना इस वचनपर ही निर्भर नहीं है,

'मन्मायारचनामेतां विज्ञायोपशमं व्रज'।

अर्थ–इस यदुकुल नाशको मेरी मायिक रचना समझ कर शान्ति धारण करो।

'नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्'।

अर्थ–इस प्रतीयमान नश्वर यादव–कुलको माया–मनोमय समझो।

इत्यादि और भी अनेक वचन हैं जो यदुकुलनाशको मायिक कहते हैं।

पूर्वपक्षी—'नश्वरं गृह्यमाणं च' इस वचनसे तो संपूर्ण जगत् मायिक प्रमाणित होता है, केवल यदुकुल ही नहीं होता, क्योंकि इसके पूर्वार्द्धमें केवल **'यदिदं मनसा वाचा'** यह सर्वसाधारणवस्तु–वाचक 'इदम्' शब्दका प्रयोग है, किसी यदुकुल–वाचक विशेष शब्दका प्रयोग नहीं है।

सिद्धान्ती—यदुकुलवाचक कोई विशेष शब्द नहीं है यह ठीक है, परन्तु जगत्‌को मायिक कहना अनेक प्रमाणोंसे विरुद्ध है और यहाँ यदुकुल–वर्णनका ही प्रसङ्ग प्राप्त है, इसलिये 'इदम्' शब्दका यदुकुल ही अर्थ मानना उचित है।

(५६) **पूर्वपक्षी—**नित्यलीला–स्थान द्वारकामें जो यादव रहते थे वे ही तो भगवान्‌की आज्ञासे 'प्रभास' क्षेत्रमें गये थे और परस्पर युद्ध कर अन्तमें सभी समाप्त होगये, फिर यह बीचमें ही मायिक–कुल कहाँसे निकल पडा? । और इसकी कल्पना किस आधारपर की गई है यह भी मालूम नहीं होता? ।

सिद्धान्ती—यद्यपि

'ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम्। विप्रशापः कथमभूद्वृष्णीनां कृष्णचेतसाम्'।

अर्थ–ब्राह्मण–भक्त, दान–वीर, ज्ञानवयोवृद्धोंकी नित्य सेवा करनेवाले श्रीकृष्ण–भक्त यादवोंको ब्राह्मणोंका शाप कैसे हुआ ? ।

इस परीक्षितके प्रश्न–वचनमें यादवोंको श्रीकृष्ण–भक्त और वृद्धसेवी कहा है। इसके अतिरिक्त **'गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः'** इस एकादशस्कन्धके वचनमें भी "यादव भगवान्‌के बाहु हैं" यह कहा है, परन्तु । भगवान्‌ने स्वयं—

'यदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम्'

अर्थ–वीर्य–शौर्य–संपत्तिसे उद्धत जो यह यादव कुल है ।

इस वचनमें यादवोंको उद्धत बताया है। और तृतीयस्कन्धमें उद्धवने भी—

'दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्' ॥

अर्थ–ये लोक बडे ही अविवेकी और अमङ्गल हैं, और विशेषतः यादव, जिन्होंने अपने साथ रहते हुए श्रीहरिको नहीं समझा । जैसे–समुद्रवासी मत्स्य प्रतिबिम्ब–रूपसे समुद्रमें रहते हुए चन्द्रको नहीं समझते हैं ।

इस वचनसे यादवोंको अमङ्गल और अविवेकी कहा है, यह परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि जो वृद्ध–सेवी हैं भगवद्बाहुस्वरूप हैं, वे उद्धत, अविवेकी या अमङ्गल हो नहीं सकते । इससे यह निश्चित होता है कि वृद्ध–सेवी भगवद्बाहु–स्वरूप जो यादव–कुल है, वही नित्यलीला–सम्बन्धी वास्तविक यादव कुल है और जिसे भगवान् उद्धत बताते हैं तथा उद्धव दुर्भग कहते हैं वह, नित्यलीला–सम्बन्धी यादव–कुलमें भूतावेश न्यायसे आविष्ट हुआ मायिक कुल है और प्रभासमें भी यही नष्ट हुआ है ।

उद्धवने जो यादवोंमें निज–स्नेहका विच्छेद होनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की थी वह भी इस नश्वर कुलको मायिक समझ कर ही की थी । अतः भगवान्‌का निजदेह–त्यागके समान यह यादव–देहत्याग भी नाट्य ही है ।

आचार्यचरणोंने भी तत्वदीप–निबन्धमें **'बलवद्रुक्मिणीमुख्या नाट्यं सर्वमिहोदितम्'** इस कारिकासे यही कहा है ।

पूर्वपक्षी—प्रभासीय–कथामें तो यह भी कहा है कि "यादवोंके देह–त्यागके अनन्तर उनकी पत्नियोंने अपने २ पतिका शरीर साथ लेकर चिताऽऽरोहण किया और अर्जुनने सभीका और्द्ध्वदैहिक कर्म करवाया ।" यदि नष्ट हुए यादव मिथ्या होते तो यह उनकी पत्नियोंको उनके शरीरोंका मिलना असम्भव था और अर्जुनको और्द्ध्वदैहिक कर्म करवानेकी भी कोई आवश्यकता नहीं थी ।

सिद्धान्ती—चिताऽऽरोहण और और्द्ध्वदैहिक हुए विना 'देहत्याग' लीला नाट्यकी

पूर्णता नहीं होसकती और आसुरोंको पूर्ण रीतिसे मोह भी हो नहीं सकता, इसलिये भगवान्ने इनको भी दिखाया। अत एव मिथ्या पदार्थ व्यवहार–साधक कैसे होगये यह शङ्का करना भी व्यर्थ है, क्योंकि परमेश्वरकी उद्देश्य–सिद्धिके लिये कुछ भी होना असंभव नहीं है।

प्रभासीय लीलाको स्पष्ट मायिक न कहनेका कारण।

पूर्वपक्षी—इस लीलाको मायिक प्रमाणित करनेके लिये प्रथम जितने प्रमाण भागवतके दिखाये हैं उनमें कोई भी प्रमाण ऐसा नहीं है जो व्याख्याकी सहायताके विना इस लीलाको मायिक प्रमाणित कर सके। यदि यह लीला वस्तुतः मायिक होती तो भगवान् शुकाचार्य इसे स्पष्ट शब्दोंमें मायिक कहते, इसे छिपानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। अतः भागवतके अनुसार तो इस लीलाको मायिक नहीं कह सकते।

सिद्धान्ती—जब कि भगवान् स्वयं ही सर्वसाधारणको अपने स्वरूपका परिचय देना नहीं चाहते, प्रत्युत विपरीत–बुद्धि उत्पन्न करनेके लिये प्रभासीयलीला–सदृश नाट्य दिखाते हैं, तब फिर इनके अभिप्रायको जाननेवाले शुकाचार्य जैसे महात्मा इस विषयको स्पष्ट शब्दोंमें कैसे कह सकते हैं ?। तथापि यदि स्थिरबुद्धिसे विचार किया जाय तो इस लीलाको मायिकी प्रमाणित करनेवाला प्रमाण–साहित्य कुछ कम नहीं है।

दशमस्कन्धके प्रारम्भमें ही—

'अन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च'।

अर्थ–बाहर भीतर काल–रूपसे संसार और पुरुष–रूपसे मोक्ष देनेवाले।

इस वचनसे यह व्यवस्था कर दी है कि काल–रूपसे भगवान् संसार देते हैं और पुरुष–रूपसे मोक्ष देते हैं—अर्थात् जो लीला काल–रूपसे की है वह संसार–प्रदा है और जो पुरुषरूपसे की है वह मोक्षप्रदा है।

फिर प्रभासीय–लीलाके प्रारम्भमें ही—

'कालात्मना निवसता यदुदेव–गेहे।
पिण्डारकं समगमन् मुनयो निसृष्टाः'॥

अर्थ–यदुराज गृह–निवासी कालात्मा भगवान्के भेजे हुए मुनि 'पिण्डारक' क्षेत्रको गये।

इस वचनसे यह भी प्रमाणित कर दिया है कि "यदुकुल–शापसे लेकर यदुकुल–विनाश–पर्यन्तकी लीला कालात्मा भगवान्की की हुई है—अर्थात् संसारप्रदा होनेसे मायिकी मिथ्या है, क्योंकि जो स्वयं मिथ्या हो और दूसरेके ज्ञानका आवरण करती हो वही मोहोत्पादनके द्वारा संसार–प्रदा होसकती है। और मोहन–शक्ति भगवन्मा-

याकी है, इसलिये इसे 'मायिकी' भी कह सकते हैं ।" यह इतना कथन ही प्रभासीय लीलाको मायिकी प्रमाणित करनेके लिये पर्याप्त है, परन्तु फिर भी बीचमें **'राजन् परस्य'** इत्यादि कुछ वचन कहे हैं, अब और इससे अधिक अप्रकाश्य विषयके लिये क्या कहना चाहिये ? ।

पूर्वपक्षी—काल-स्वरूपसे भगवान्ने जो लीला की हैं वे सभी मायिकी हैं यह तो तुम नहीं कह सकते, क्योंकि गोवर्द्धन-लीला भी काल-स्वरूपसे की है, यह—

'कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसता' ।

अर्थ-इन्द्रके गर्वको नष्ट करनेकी इच्छासे कालात्मा भगवान्के कहे हुए ।

इस वचनसे प्रमाणित होता है, परन्तु इसे तुम वास्तविक ही मानते हो ।

सिद्धान्ती—केवल दर्पनाश भगवान्ने काल-स्वरूपसे किया है, संपूर्ण लीला काल-स्वरूपसे नहीं की । और वस्तुतः 'कालात्मना जिघांसता' इन विशेषणोंसहित 'भगवता' इस पदका सम्बन्ध उत्तरार्द्धके 'प्रोक्तं' इस पदके साथ है, इसलिये दर्पनाशक वचन भगवान्ने काल-स्वरूपसे कहे हैं यही इससे प्रमाणित होता है, संपूर्ण गोवर्द्धन लीला काल-स्वरूपसे की है यह नहीं । अतः काल-स्वरूपसे कीहुई सभी लीला मायिकी हैं यह कहनेमें हमें कोई आपत्ति नहीं है ।

सिद्धान्तकी उत्तमता और इसके अधिकारी ।

पूर्वपक्षी—यदि तुम्हारे कहे हुए ये सभी सिद्धान्त—ब्रह्म सर्वकल्याणगुण-परिपूर्ण है साकार है, जगत् सत्य है, जीव अणु हैं, परब्रह्म श्रीकृष्णकी भक्ति करना ही जीवका परम धर्म है, श्रीकृष्णके आत्यन्तिक अनुग्रहसे लीला-देह प्राप्त कर गोकुल, वृन्दावन आदि नित्यलीला-स्थानोंमें श्रीकृष्णकी परमानन्दमयी लीलाका अनुभव करना ही जीवका वाञ्छनीय परम फल है—उक्तानुसार श्रुति-स्मृति-पुराणोंसे सर्वथा अविरुद्ध हैं तो वेदादि-शास्त्रोंको माननेवाले सभी आस्तिक इन सिद्धान्तोंको क्यों नहीं स्वीकार करते । और स्वीकार नहीं करते हैं तो तुम्हारे इस परिश्रमसे फल ही क्या, क्योंकि जिनका आशय तुम्हारे समान है वे तो इन सिद्धान्तोंकी स्वीकृतिमें किसी भी प्रकारकी विवेचना या उपपत्तिकी अपेक्षा करते ही नहीं, और जो प्रतिकूल हैं वे, चाहे कैसी ही कितनी ही उपपत्तियाँ दिखाई जाय, इन सिद्धान्तो कों स्वीकार कर ही नहीं सकते । और यदि यह सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं हैं तो यह भी सिद्धान्तके ही स्वरूपकी न्यूनता है ।

सिद्धान्ती—किसी भी सिद्धान्तकी उत्तमता या प्रामाणिकता प्रमाणोंके अधीन है, आदर करनेवालोंके अधीन नहीं है । और जगत्में कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसका

सभी कोई आदर करते हों । अतः आदर करनेवालोंकी न्यूनतासे सिद्धान्तके स्वरूपमें किसी भी प्रकारकी न्यूनता समझना भूल है । जो सिद्धान्त जिस जीवके सात्विकी राजसी या तामसी प्रकृतिके अनुकूल होता है वह उसको प्रिय होजाता है । यह हमारा सिद्धान्त सात्त्विक है, इसलिये जो सात्विक जीव हैं उनको यह अभिरुचित होजाता है, अन्य जीवोंको नहीं होता । परन्तु अन्य जीवोंको नहीं होता है इससे इस सिद्धान्तकी कोई हानि नहीं है, क्योंकि अभिरुचित न होनेमें जीवोंकी अयोग्यता ही कारण है । जैसे लोहको सुवर्ण बनानेवाली 'पारस' मणि पाषाणकों सुवर्ण नहीं बनाती, परन्तु इससे मणिके स्वरूपमें कोई न्यूनता नहीं समझी जाती, इसी प्रकार सात्विक दैवी जीवोंके लिये उपयोगी यह हमारा सिद्धान्त यदि राजस—तामस—जीवोंको अपने प्रभावका परिचय नहीं देता है तो इससे इसकी कोई न्यूनता नहीं समझी जासकती ।

हमने तो यह प्रमाण और उपपत्तियोंके प्रदर्शनका परिश्रम इसलिये किया है कि भगवद्भजनके अधिकारी सात्विक जीव भी अन्य जीवोंकी दुःसङ्गतिसे मलिनहृदय न हो जाँय । अतः यह परिश्रम ठीक ही है ।

(५७) **पूर्वपक्षी**—यदि भगवद्भजनाधिकारियोंके ही लिये यह परिश्रम है तो इसमें भगवान्के स्वरूप—गुण—लीलाओंको नित्य, अलौकिक, आनन्दमय प्रमाणित कर भगवद्भक्तिको इनकी प्राप्तिका साधन बताना ही पर्याप्त है, इसके लिये नानादोष—परिपूर्ण इस प्रपञ्चको (जगत्को) ब्रह्म—स्वरूप और सत्य कहनेकी क्या आवश्यकता है । और इसको ब्रह्म—स्वरूप कहनेमें एक यह आपत्ति भी है कि ब्रह्म केवल भाव—स्वरूप ('है' इस प्रकार जिसकी प्रतीति हो) है और इस प्रपञ्चमें भाव, अभाव—दोनों प्रकारके पदार्थ हैं । अतः यह ब्रह्म—स्वरूप हो नहीं सकता । अत एव सत्य भी नहीं होसकता, क्योंकि सत्यतामें ब्रह्म—स्वरूप होना ही कारण है ।

सिद्धान्ती—भगवद्भजनाधिकारी जीवोंके लिये यह प्रयास है, इसी कारण प्रपञ्चको भी ब्रह्म—स्वरूप और सत्य कहा है, क्योंकि जिन भगवल्लीलाओंको ये नित्य कहना चाहते हैं उनके अन्तर्गत इस प्रपञ्चकी रचना भी है । इसकी भगवल्लीलाओंमें परिगणना श्रीभागवतके **'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च'** इस दशविधलीला—प्रतिपादक वचनमें 'सर्ग' शब्दसे की है ।

और अभावोंका स्वरूप तो तुम जैसा असत्तुल्य मानते हो, ऐसा हम नहीं मानते, हम सभी अभावोंको भाव—स्वरूप ही मानते हैं, क्योंकि श्रुतिमें अभाव, नाश इत्यादि अभाव—वाचक शब्दोंका ब्रह्मके लिये उपयोग किया है । श्रुति यह है—

'एष ह्येव शून्यः एष ह्येव तुच्छः एष ह्येवाभावः
एष ह्येवाव्यक्तोऽदृश्योऽचिन्त्यो निर्गुणश्चे'ति महोपनिषत् ।

अर्थ–यह परमात्मा ही शून्य है, यही तुच्छ है, यही अभाव है, यही अव्यक्त, (अप्रकट) अदृश्य, अचिन्त्य और निर्गुण है ।

यदि अभावोंका स्वरूप ब्रह्मसे सर्वथा प्रतिकूल और असत्तुल्य होता तो यह अभाव–वाचक शब्दोंका ब्रह्ममें उपयोग होना सर्वथा असम्भव था ।

उपर्युक्त श्रुतिमें आए हुए शून्य, तुच्छ इत्यादि शब्दोंके अर्थको स्पष्ट करनेवाले कूर्म–पुराणीय वचनोंमें भी इन शब्दोंका मुख्य अर्थ ब्रह्म है यह कहा है ।

वचन ये हैं—

शमूनं कुरुते विष्णुरदृश्यः सन् परः स्वयम् ।
तस्माच्छून्यमिति प्रोक्तस्तोदनात्तुच्छमुच्यते ॥
नैष भावयितुं योग्यः केनचित्पुरुषोत्तमः ।
अतोऽभावं वदन्त्येनं नाश्यत्वान्नाश इत्यपि ॥
सर्वेषां तदधीनत्वात्तत्तच्छब्दाभिधेयता ।
अन्येषां व्यवहारार्थमिष्यते व्यवहर्तृभिः ॥

अर्थ—ब्रह्म अपने सुखसे दूसरेके सुखको अल्प करदेता है, अतः इसे शून्य (शम्–सुख, ऊन–अल्प) कहते हैं । अदृश्य होकर दुःख (विरह–दुःख) देता है, इसलिये 'तुच्छ' (तुद् दुःख–दाता, छः–प्रच्छन्न) कहते हैं । (नित्य होनेसे) उत्पाद्य नहीं है, इसलिये अभाव कहते हैं, भक्षण करने योग्य न होनेसे नाश कहते हैं । सभी वस्तुओंकी स्वरूप–स्थिति ब्रह्मके अधीन है, इसलिये केवल व्यवहारार्थ, शून्य, अभाव इत्यादि सभी ब्रह्मवाचक शब्दोंका अन्य पदार्थोंके विषयमें उपयोग किया जाता है, (वस्तुतः सभी शब्दोंका मुख्य अर्थ ब्रह्म ही है ।)

'सर्वेषां तदधीनत्वात्' इस उपर्युक्त अन्तिम वचनका अक्षरार्थ तो पूर्व–लिखित ही है, परन्तु पूर्वापर–सम्बन्धसे प्रकरण–वश ध्वनित अर्थ इस प्रकार है—सभी प्रापञ्चिक पदार्थ ब्रह्मके अधीन हैं–अर्थात् ब्रह्म ही अपने स्वरूपभूत पदार्थोंमें निज धर्मोंके न्यूनाधिक तिरोभावसे विचित्रता उत्पन्न कर प्रत्येकका स्वरूप पृथक् २ बनाता है, इसलिये व्यवहारदशामें अभाव, शून्य इत्यादि ब्रह्म–वाचक शब्दोंका शक्ति–संकोचसे प्रापञ्चिक पदार्थोंमें प्रयोग किया जाता है ।

इन वचनोंसे यह भी सिद्ध होता है कि शास्त्रमें अन्यत्र भी जहाँ कहीं ब्रह्मके लिये 'शून्य' 'तुच्छ' इत्यादि शब्दोंका प्रयोग किया गया हो उससे ब्रह्मको सर्वधर्म–शून्य निर्गुण मान कर राम, कृष्ण इत्यादि भगवत्स्वरूपोंको, तथा इनकी आनन्दमयी लीला-

ओंको अनित्य और मायिक मानना सर्वथा अयोग्य है, क्योंकि इन शब्दोंसे ब्रह्ममें अन्यसुखाल्पीकरण, दुःखदान इत्यादि पूर्वोक्त धर्मोंका ही बोध होसकता है, धर्माभावका नहीं होसकता ।

कुछ विद्वान् जो इन श्रुति–स्मृति–वचनोंसे विरुद्ध ब्रह्मको सर्वधर्म–शून्यनिर्गुण, इसकी लीलाओंको अवास्तविक और जगत्को असत्य कहते हैं, उसका कारण केवल प्रपञ्चान्तर्गत भगवन्मूर्तियाँ, भगवद्भक्त और भगवद्भक्तिको न सहन करना ही है । और उनकी ऐसी विरुद्ध चेष्टामें भी सर्वान्तर्यामी हरिकी इच्छा ही कारण है, इसलिये उनके विषयमें अब कुछ अधिक कहना नहीं चाहते ।

हम तो केवल जो इस शास्त्रके अधिकारी सात्विक भगवद्भक्त हैं उनको यह कहना चाहते हैं कि हमारे कहे हुए मार्गके अनुसार ब्रह्म–स्वरूपको जान कर उसकी प्राप्तिके लिये उसीकी सेवा करो ।

बैठा, विवेकलवका करता विकास,
जो दासके हृदयमें करुणा–निवास ।
सप्रेमभाव उसके चरणाब्ज पास,
कालोपयुक्त यह अर्पित है प्रयास ।।

इति श्रीवामनाचार्यदेशिक–निदेश–वशंवदेन जगन्नाथेन निर्मितो मण्डन–
मर्मानुवादः समाप्तः ।